हिन्दू-धर्म के ज्ञान-मय क्रिया-पक्ष की शोध-पूर्ण प्रस्तुति

'कौल-कल्पतरु'

चण्डी

(सं० १९९९ वि०-सन् १९४२ ई० से प्रकाशित)

धर्म-चर्चा

(१)

वर्ष ५०] वैशाख २०४८ वि०-मई, १९९१ [संख्या २

'कौल-कल्पतरु' चण्डी के प्रवर्त्तक
पं० देवीदत्त शुक्ल
द्वारा
'चण्डी' मासिक पत्रिका के
प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित
हिन्दू-धर्म-विषयक
सार-गर्भित सम्पादकीय टिप्पणियाँ

धर्म-चर्चा

"...जिस धर्म ने हिन्दुओं को संसार में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था, उसके अनुयायी वही हिन्दू आज वर्तमान अधो-गति को क्यों प्राप्त हैं ? क्या यह विचार करने की बात नहीं है ? परन्तु विचार करे कौन ? यहाँ तो सबको अपनी पड़ी है ! जिस जाति के लोगों को जब केवल अपनी-ही-अपनी बात सूझने लगती है, तब उसके पराभव का सूत्र-पात होता है । ऐसी दशा में उसका महान्-से-महान् बल-शाली 'धर्म' भी उसका साथ किसी भी तरह नहीं दे पाता ।..."

—पण्डित देवीदत्त शुक्ल

यह प्रति ४-५० रु०/वार्षिक मूल्य ५०, रु०

'कौल - कल्पतरु' चण्डी के प्रवर्तक

'कौल - कल्पतरु' पण्डित देवीदत्त शुक्ल जी

१०३वीं आविर्भाव - तिथि : वैशाख कृष्ण ३, २०४८ वि०—२ अप्रैल, १९९१

२०वीं पुण्य - तिथि : ज्येष्ठ कृष्ण ११, २०४८ वि०—८ जून, १९९१

के

पुनीत अवसर पर मननीय उनकी एक सिद्ध रचना

मानस - अर्चन

मानस अर्चन शुभ यहाँ, करता हूँ दे ध्यान।
मिलती जिससे मुक्ति है, परमानन्द महान ॥१
पा छुट्टी सब काम से, आ बैठा एकान्त।
हूँ अब तो एकाग्र मैं, करके मन को शान्त ॥२
हृदय-कमल में इष्ट का, करूँ प्रेम से ध्यान।
पूजन उसका यों करूँ, साधक परम सुजान ॥३

'कौल-कल्पतरु' चण्डी के प्रवर्त्तक

पं० देवीदत्त शुक्ल

की

'चण्डी' मासिक पत्रिका के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित

हिन्दू-धर्म-विषयक सार-गर्भित सम्पादकीय टिप्पणियाँ

धर्म-चर्चा

१ महा-चण्डी-याग

सप्तशती में शुम्भ-निशुम्भ का जो महा-युद्ध वर्णित है, उसकी समाप्ति पर इन्द्रादि देवताओं ने जगदम्बा की स्तुति की थी। उस स्तुति से प्रसन्न होकर, भगवती ने देवताओं के आश्वासन के लिए जहाँ और अनेक बातें कही थीं, वहाँ उन्होंने एक महत्त्व-पूर्ण प्रतिज्ञा भी की थी। उन्होंने कहा था—

इत्थं यदा यदा बाधा, दानवोत्था भविष्यति । तदा तदाऽवतीर्याहं, करिष्याम्यरि-संक्षयम् ।।

अर्थात् इस प्रकार जब-जब दानव उभड़ कर बाधा उपस्थित करेंगे, संसार को त्रास देंगे, तब-तब मैं आविर्भूत होकर तुम्हारे शत्रुओं का संहार करूँगी।

आज वैसी ही बाधा नहीं, उससे भी कहीं अधिक त्रास-दायक सङ्कट उपस्थित है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारे भू-मण्डल का विनाश हो जाएगा और कहीं भी धर्म की प्रवृत्ति नहीं रहने पाएगी। इस महा-विकट अवस्था से अब त्राण तभी मिलेगा, जब जगदम्बा पहले की भाँति फिर अवतरित होकर धर्म-राज्य के शत्रुओं का सर्व-संहार करेंगी। इसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि देश के अधिकारी लोग किसी 'सिद्ध-पीठ' पर एकत्रित होकर जगदम्बा का आवाहन करें।

२ धर्म का अपलाप

हिन्दुओं में धर्म का अपलाप स्वयं उनके बड़े-बड़े धुरोणों तक ने किया है। श्रुति और स्मृति के महत्त्व को उन्होंने लोक-मत के आगे बराबर दबाया है। इसका फल यह हुआ है कि उनका धर्म 'निषेध' का धर्म हो गया है। **यह न करो, वह न करो—इस समय हिन्दुओं का यही धर्म है! यह करो, वह करो, यह सोचना तक वे भूल गए हैं!!**

हिन्दुओं में यह भाव-परिवर्तन कब हुआ, इसका विवेचन एलिचपुर निवासी पं० गोपीनाथ दीनानाथ चुलैट ने बहुत उत्तम ढङ्ग से किया है। चुलैट जी ने 'युग-परिवर्त्तन' नाम की एक विलक्षण पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने उक्त विषय पर प्रधान रूप से विचार किया है और यह सिद्ध किया है कि हिन्दू-धर्म में **'निषेधात्मक धर्म'** का उदय आठवीं सदी के दूसरे चरण से हुआ है। उस समय के मनीषियों ने श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित बातों का निषेध कर 'लोक-मत' का प्राधान्य स्थापित किया था। फलतः उनके उस कृत्य का बाद को अनुकरण अधिक तत्परता के साथ किया गया और जो निषेधात्मक 'आर्डिनेन्स' जारी किए गए, उनकी संख्या ५० तक पहुँच गई।

आज का हिन्दू-धर्म न तो वैदिक है, न पौराणिक है, वह वस्तुतः एक खिचड़ी धर्म है। ऐसी दशा में यदि धर्म के नाम से धींगा-धींगी मचाई जाए, तो कोई क्या कह सकता है! जिस धर्म में कोई अनुशासन नहीं है, जिसका कोई एक नेता नहीं है, उस धर्म में सभी बातें सम्भव हो सकती हैं। यही कारण है कि आज अनेक लोग अपनी रुचि की बातों को धर्म के रूप में प्रचार कर रहे हैं। वे न तो शास्त्र की परवा करते हैं, न परम्पराओं की—वरन् उनकी हत्या करना ही धर्म का मुख्य अङ्ग समझ रहे हैं! और यह सब काम वे लोग बड़े उत्साह के साथ करते दिखाई दे रहे हैं, जो हिन्दुओं के 'सनातन धर्म' की बात तक नहीं जानते!

३ चमत्कार का चक्कर

युगों से 'चण्डी-पाठ' का प्रचार है। न मालूम कितने मानवों ने उसके द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि की होगी। आज भी लाखों आदमी उसकी शरण में हैं और 'चण्डी' का पाठ घर-घर होता रहता है, परन्तु अविश्वासियों का सन्देह दूर नहीं होता!

हमें उन लोगों पर तरस आता है, जिनको 'चण्डी' पर आस्था है, तो भी वे चमत्कारियों के पीछे दीवाने रहते हैं। ऐसे भी लोग कम नहीं हैं, जो चमत्कार न सही, तो इसी बात के फेर में रहते हैं कि उन्हें कोई ऐसा उपाय बता दे कि 'चण्डी'—पाठ करते ही माँ दुर्गा उनके सामने आकर खड़ी हो जाएँ!

ऐसे उतावले लोगों से यदि कोई यह पूछे कि 'भाई, तुमने **'कीलक'** के **'ददाति प्रति-गृह्णाति'** के अनुसार आचरण भी कभी किया है?' तो हीं-हीं करने लगते हैं। जगदम्बा को प्रसन्न करने के लिए जो लोग दूसरों का सहारा ढूँढ़ते हैं - दूसरों के अनुभवों की जासूसी कर, जो अपनी कामना पूरी करना चाहते हैं, वे अपना अमूल्य समय तो गँवा ही रहे हैं, साथ ही अपने को धोखे में भी रख रहे हैं।

हम जगदम्बा के भक्तों को तो यही चाहिए कि हम अपनी ओर से अपना कर्त्तव्य-पालन करते रहें, उसका क्या परिणाम होगा, इससे कोई सरोकार न रक्खें। माँ ने अपने पुत्र की कब उपेक्षा की है? फिर उसकी उपेक्षा तो वे कर ही नहीं सकतीं, जो उनकी सेवा में निरत रहता है।

४ संन्यासी और शाक्त-धर्म

'चण्डी' में काशी के 'काली-मठ' के महन्त जी के निधन का समाचार छपा था। उसे पढ़कर दो-एक सज्जनों ने यह कहकर कि 'क्या 'दण्डी स्वामी' भी 'शाक्त-धर्म के अनुयायी होते हैं', आश्चर्य प्रकट किया है। उन्हें जानना चाहिए कि आदि श्रीशङ्कराचार्य जब स्वयं परम शाक्त थे, तब इसमें आश्चर्य की क्या बात है? आदि श्री शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित सभी मठों में जगदम्बा की प्रतिमा स्थापित है और उनके गद्दीधर श्री शङ्कराचार्य-विरचित विधि-विधान से जगदम्बा की सविधि पूजा करते रहते हैं। तब 'काली-मठ' के महन्त जी के शाक्त-धर्मानुयायी होने में कौन-सी विचित्रता हुई? इस मठ के मठाधीश कितनी ऊँची श्रेणी के साधक होते आए हैं, इसका ज्ञान यदि लोगों को होता, तो वे जानते कि संन्यास की भी सिद्धि 'शाक्त-मार्ग' के द्वारा अनायास ही हो जाती है।

५ जगदम्बा की सामूहिक उपासना

आज अति ही दारुण समय उपस्थित है। माँ की शरण ग्रहण करने पर ही मानव का निस्तार हो सकता है। अब केवल साल में दो बार माता की याद कर लेने से काम न चलेगा। चाहिए तो यह कि नित्य ही कुछ-न-कुछ समय निकाल कर माँ की याद अति श्रद्धा के साथ की जाए, परन्तु यदि यह सम्भव न हो, तो प्रति-मास शुक्ला अष्टमी को तो उनकी सेवा-पूजा में घण्टे-दो-घण्टे का समय अवश्य ही लगाया जाए।

क्या ही अच्छा हो, यदि प्रत्येक गाँव/नगर में किसी सुन्दर स्थान में सभी निवासी एकत्र होकर 'घट-स्थापन-पूर्वक' माँ का यजन-पूजन करना प्रारम्भ कर दें। 'घट-स्थापन-पूर्वक' सविधि षोडशोपचार से माँ का पूजन कर चुकने पर जो लोग 'चण्डी' (श्रीदुर्गा-सप्तशती) का पाठ कर सकते हों, 'चण्डी' का पाठ करें और जो पाठ न कर सकते हों, वे चुपचाप बैठ कर 'मन्त्र-जप' या 'नाम-जप' ही करें!

इस प्रकार जगदम्बा का यजन सामूहिक रूप से करने से 'लोक-कल्याण' तो होगा ही, साथ ही समाज में 'धार्मिक भावना' का भी उदय होगा। धर्म-भीरु सज्जनों को इस प्रस्ताव पर विचार ही न करना चाहिए, किन्तु इसे कार्य का रूप भी देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही कल्याण सम्भव है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। शाक्त-साधकों को चाहिए कि इस योजना को वे कार्य का रूप देने का प्रयत्न करें।

६ सामूहिक पूजा

'सामूहिक' पूजा का महत्त्व सारे संसार में आज भी माना जाता है। बौद्धों, ईसाइयों और मुसलमानों में तो उसका सबसे अधिक आदर है, परन्तु जिन हिन्दुओं के पूर्वजों ने उसका पहले-पहल प्रचलन किया था, उन्हीं की सन्तान उसको आज महत्त्व-हीन कर बैठी है और एकाकी की पूजा को ही अपना सब कुछ मान लिया है! वास्तव में हमारे पराभव के कारणों में से एक कारण हमारी यह धारणा है, जो हानि-कारक तो है ही, भ्रान्त भी है।

अतएव हमारे आचार्यों को चाहिए कि वे 'सामूहिक' पूजा पर बल ही न दें, किन्तु उसकी व्यवस्था करने का उपयुक्त उपाय भी ग्रहण करें। शाक्तों में सामूहिक पूजा का प्रचार आज भी है और

वे उसके महत्त्व को जानते भी हैं, परन्तु उनका सम्यक् सङ्गठन न होने से—उनकी जो सामूहिक पूजाएं
होती रहती हैं, उनमें वह विशेषता नहीं रही ।

हमारा यह उद्देश्य है कि शाक्त लोग अपनी 'सामूहिक' पूजा के महत्त्व को समझ कर उसे
व्यापक रूप प्रदान करें । यदि **कुल-तिथि—प्रति शुक्ला अष्टमी** को **घट-स्थापन-सहित दुर्गोत्सव** का समा-
रोह गाँव-गाँव होने लगे, तो इससे किसी की हानि तो होगी नहीं, लाभ यह होगा कि हम धर्म-शील
बनेंगे, जिससे हमें सुख और शान्ति प्राप्त होगी । महीने भर में, एक दिन, किसी समय—दो घण्टे का
समय खर्च कर देने से समाज का मङ्गल ही होगा । अतएव धर्मवानों को चाहिए कि प्रत्येक महीने वे
दुर्गोत्सव को करने के लिए क्रिया-शील हों ।

इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दू का जीवन एक धार्मिक जीवन है, परन्तु इतना होते हुए भी
उसमें सजीवता नहीं है । इसके कई कारण हैं, जिनमें मुख्य कारण यह है कि हिन्दू अपने 'धर्म-शास्त्र' से
दूर होकर व्यक्ति-विशेष का अनुगामी हो गया है ।

अतएव इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि प्रत्येक परावलम्बन को छोड़कर वह स्वावलम्बन
को श्रेयस्कर समझे । यह बात तभी सम्भव होगी, जब वह **'शास्त्र'** को अपना मार्ग-दर्शक बनाएगा ।
यों तो हिन्दू यही समझता है कि वह अपने जीवन में जो भी करता है, शास्त्रानुसार ही करता है और यह
बात अधिकांश में सच भी है, परन्तु इतना होते हुए भी उसका करना-धरना सबका-सब प्रभाव-हीन होता
है । यदि ऐसा न होता, तो हिन्दू की दशा आज दयनीय न हो गई होती ।

ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि हिन्दू इस बात पर ध्यान-पूर्वक विचार करें और त्रुटियों को
दूर कर, अपने को आदर्शों के अनुकूल बनाएँ क्योंकि परावलम्बी होने से जीवन में सिद्धि की प्राप्ति
नहीं होती ।

७ अपने-अपने दृष्टि-कोण की बात

अपना-अपना दृष्टि-कोण होना सर्वथा अनिवार्य है, परन्तु एक दृष्टि-कोण 'शास्त्र' का होता
है, जिसके आगे अपने-अपने दृष्टि-कोणों को दबाना पड़ता है । यह बात केवल उन्हीं पर लागू है, जो
आस्तिक हैं और जो शास्त्र को प्रमाण मानते हैं ।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि कभी-कभी हमारे आस्तिक बन्धु भी जान या अनजान में
शास्त्र के दृष्टि-कोण के आगे अपने दृष्टि-कोण को कर देते हैं और यह बात तभी होती है, जब अहं का
भाव प्रबल पड़ जाता है । यहीं विवाद और कलह का बीज-वपन होता है और जब यह अवस्था धर्म के
क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है, तब तो व्यक्ति का जो रूप व्यक्त होता है, वह और चाहे जिसका हो, धर्म का
नहीं होता । ऐसा न होता, तो हम अपने धर्माचार्यों को शास्त्रीय मत का अपलाप करते न पाते ।

हम आए दिन देखते रहते हैं कि हमारे कितने ही आचार्य उन विषयों पर भी अपनी सम्मति
देते रहते हैं, जिनका उन्हें ज्ञान भी नहीं होता । उदाहरण के लिए शाक्तों के **'वीराचार'** को ही लीजिए ।
इसके वास्तविक रहस्य को न जानकर भी हमारे धर्माचार्य उसे नरक का द्वार बता देना अपने पाण्डित्य
की सार्थकता समझते हैं ! सदा-शिव के जिस धर्म-तत्त्व के समझने में, दक्ष जैसे प्रजापति से भूल हो गई
और जिसके लिए उन्होंने सदा-शिव का अपमान करने में कुछ बाकी न रक्खा, उसी तत्त्व की विगर्हणा
करना हमारे कुछ धर्माचार्य अपना कर्तव्य मान बैठे हैं ! वे इस बात को भूल जाते हैं कि दक्ष को उस

भूल का क्या फल मिला था, परन्तु उपाय क्या है ? जहाँ अपना दृष्टि-कोण शास्त्र की मर्यादा के आगे आ जाता है, वहाँ ऐसा ही होता है।

८ तन्त्र का महत्त्व

भारतीय आर्यों के विद्या-वैभव में **'तन्त्र-शास्त्र'** को अनूठा स्थान प्राप्त है। यही वह शास्त्र है, जिसके अभ्यास से मनुष्य को देवत्त्व प्राप्त होता है।

वर्तमान युग के विद्वानों ने **'तन्त्र-शास्त्र'** को **'जादू-टोना'** की श्रेणी में रखकर, जब से उसे महत्त्व-हीन ठहरा दिया है, तब से लोग उससे यहाँ तक उदासीन हो बैठे कि आज उसके ज्ञान का अभाव हो गया, परन्तु सत्य कभी दबाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि उन्हीं विद्वानों के कितने ही उत्तराधिकारी तन्त्र-विद्या का रहस्य जानने के लिए आज प्रयत्न-शील हैं और उसके सम्बन्ध में खोज-पूर्ण विवेचनात्मक लेख ही नहीं प्रकाशित किए जाते हैं, किन्तु लुप्त-प्राय अलभ्य तन्त्र-ग्रन्थों के सु-सम्पादित अच्छे-अच्छे संस्करण भी निकाले जा रहे हैं। इस प्रकार एक भारी भूल का सुधार किया जा रहा है और नई श्रेणी के विद्वानों का ध्यान तन्त्रों के महत्त्व को ओर आकृष्ट हो चला है।

यह बात देश-वासियों के कल्याण की ही सूचक है। यदि लोग इस बात को हृदयङ्गम कर लें कि **'तन्त्र-शास्त्र'**—'जादू-टोना' की श्रेणी का नहीं, किन्तु आर्यों की आध्यात्मिक भावना का एक वैज्ञानिक निदर्शन है, तो इस देश के अधूरे धार्मिक इतिहास को पूर्ण रूप प्राप्त हो जाए। साथ ही यह बात भी प्रकट हो जाए कि आर्यों की आध्यात्मिक भावना कितनी ऊँची उठ चुकी थी और उसको कैसा वैज्ञानिक रूप प्राप्त हो गया था। यह प्रसन्नता की बात है कि तन्त्रों के महत्त्व को लोग अब स्वीकार करने लग गए हैं और वह दिन दूर नहीं है, जब इस शास्त्र का महत्त्व इस देश में पूर्व-वत् स्थापित हो जाएगा।

९ कौन अज्ञान में है ?

शाक्तों के धर्म-ग्रन्थों में तरह-तरह की साधनाएँ लिखी हुई हैं और वे सभी अपने-अपने क्षेत्रों में एक-से-एक बढ़कर हैं, परन्तु जो महत्त्व **'यन्त्र-आवरण-सहित इष्ट-देवता की नित्य-पूजा'** का है, दूसरी बात को नहीं प्राप्त है। किसी भी तन्त्र-ग्रन्थ को आप उठाकर पढ़ें, उसके अधिकांश में इसी **'नित्य-पूजा'** की विस्तार के साथ विवेचना मिलेगी। यही नहीं, जो व्यक्ति शाक्त-धर्म में दीक्षित होता है, उसको भी यही **'नित्य-पूजा'** बताई जाती है। यही वह पूजा है, जिसके लिए लोग शाक्तों की निन्दा करते हैं। इन निन्दक बुद्धि-वादियों की क्षमता की सार्थकता ही और कैसे होती !

आज इस देश के बुद्धि के पुजारियों की दृष्टि में एक 'पूजा' की इसीलिए निन्दा है, क्योंकि उसके रहस्य को कोई समझना नहीं चाहता। परन्तु 'शाक्त' अपने को इनकी निन्दा से परे समझता है, वह पशु के खूँटे में अपने को बाँधे नहीं रहना चाहता। उसे तब किसी की निन्दा की क्या चिन्ता हो सकती है, जब वह यह बात भली-भाँति जानता है कि संसार के सभी धर्मवाले एक दूसरे की निन्दा में निरत रहते हैं। यदि उनके धर्म की भी निन्दा की जाती है, तो इसमें आश्चर्य करने को कहाँ स्थान है ?

वस्तुतः संसार के इन धर्म-निन्दकों की इस प्रवृत्ति को देखकर उसे इस बात से प्रसन्नता ही होती है कि एक उसी का धर्म है, जो किसी भी धर्म की निन्दा करने की अनुमति नहीं देता। ऐसी दशा में एक शाक्त, निन्दा-वाद से कदापि घबरा नहीं सकता क्योंकि वह तो अपने को सच्चे अर्थों में पक्का 'श्रौत'

समझता है। उसने किसी के निन्दा-वाद से भयभीत होकर न तो अपने धर्म का त्याग ही किया है, न अपनी पूजा-प्रक्रिया में किसी प्रकार का परिवर्तन किया है। वह अपने सिद्धान्तों पर सदैव अडिग रहा है और आज भी अडिग है। उसकी **'नित्य-पूजा'** आज भी उसी तरह होती है, जैसी वह प्रारम्भ में होती थी। यह कितने महान् गौरव की बात है। यह बात जिन शाक्तों की जानकारी में है, उन्हें अपने धर्म के प्रति इसी कारण गहरा अनुराग भी है। तब एक सच्चा शाक्त धर्म-निन्दकों से कैसे विचलित हो सकता है? वह तो उनकी निन्दा की बातें सुनकर हँस भर देगा, क्योंकि वह जानता है कि कौन अज्ञान में है?

१० हम निराश क्यों हों?

हिन्दुओं के आगे आज जीवन-मरण का प्रश्न है। वे सदियों से दयनीय दशा को प्राप्त हैं और उनकी विशाल संख्या का ह्रास हो गया है। जिस भारत में एक दिन सभी हिन्दू थे, उसी में आज उनके चतुर्थांश उनके नहीं रह गए! यह एक ऐसी बात हुई है, जो हिन्दुओं के भविष्य का स्पष्ट रूप से संकेत करती है। यह उनके ह्रास का सबसे अधिक प्रबल प्रमाण है और इसको देखकर भी वे आज भी सजग नहीं होना चाहते!

जिस 'धर्म' ने हिन्दुओं को संसार में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था, उसके अनुयायी वही हिन्दू आज वर्तमान अधो-गति को क्यों प्राप्त हैं? क्या यह विचार करने की बात नहीं है? परन्तु विचार करे कौन? यहाँ तो सबको अपनी-अपनी पड़ी है! जिस जाति के लोगों को जब केवल अपनी-ही-अपनी बात सूझने लगती है, तब उसके पराभव का सूत्र-पात होता है। ऐसी दशा में उसका महान्-से-महान् बल-शाली 'धर्म' भी उसका साथ किसी भी तरह नहीं दे पाता।

कौन नहीं जानता है कि वही वेद, पुराण आदि 'धर्म-ग्रन्थ' यहाँ हैं, गङ्गा-यमुना जैसी पुनीत नदियाँ, काशी-प्रयाग जैसे पवित्र तीर्थ आज भी लाखों नर-नारियों का उद्धार कर रहे हैं। और यही कौन भूल गया है कि इस देश के निवासी वशिष्ठ, कश्यप जैसे महर्षियों की सन्तानें हैं? तब आज यह दशा क्यों है? यही न कि हमारा दृष्टि-कोण बदल गया है और अब हम केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं।

परन्तु लोगों के निजी स्वार्थों की बलि-वेदी पर—राष्ट्र के महान् स्वार्थ का हनन नहीं होने दिया जाएगा। इस महान् देश का यह प्राचीन-तम आदर्श रहा है और वह आदर्श आज भी लोगों को ज्ञात है। ज्ञात ही नहीं, उनमें से अनेक उसे अपने जीवन का ध्येय बनाए हुए हैं। उनके रहते यह विनाशकारी स्वार्थ-वाद कितने दिन ठहर सकता है, यही देखना है।

कम-से-कम आशावादी तो इसी भावना से अपने विश्वास पर अटल हैं। फलतः उनका कहना है कि भारत अपनी पूर्व-स्थिति को पुनः प्राप्त करेगा और राम-कृष्ण की यह जन्म-स्थली एक बार फिर संसार को 'धर्म-मार्ग' का निर्देश करेगी। यदि यह बात न होती, तो भारत को 'रहस्य-वादी' होने का गौरव न दिया जाता। अतएव हम निराश क्यों हों?

११ अमर जीवन का रहस्य

इस अद्भुत संसार में 'धर्म' भी एक ही वस्तु है। यह मानव को भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों का स्वामित्व प्रदान करने का वचन देता है। स्रष्टा ने अपनी सृष्टि के लाड़ले मानव के ऊधम को देखकर, उसे **'धर्म के ब्रह्म-पाश'** से बाँध दिया है, जिससे वह अधिक ऊधम न मचाए और राह-राह

चले। तभी उसका संसार में व्यापक प्रचार है। यही नहीं, उसकी फँसरी ऐसी ठीक बैठी है कि कितने ही पागल हो गए और कितनों ही ने उसी के गुण-गान में अपने को न्योछावर कर दिया।

बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि धर्म ऐसे ही महान् बलिदानों के सुफल हैं। इन धर्मवालों में 'धर्म' के प्रति इतनी गहरी निष्ठा जाग्रत् हुई कि इन्होंने सारे मानव-समाज को अपने ही रूप में ढालने का व्रत ही कर लिया। इसके लिए मुसलमानों को तो शस्त्र तक की सहायता ग्रहण करनी पड़ी! 'धर्म' के भगवान् में अनेक **गुण** माने गए हैं। वह दिखाई नहीं देता है, तो उसके भक्त उसी के रूप के हो जाने की साधना करते हैं!

ईसाइयों और मुसलमानों ने 'धर्म' की **'एक-निष्ठा'** और **'सम-भाव'** के गुणों को लेकर, अपने समाज में उन्हें रूढ़ि का रूप दे दिया है। मुसलमान एक अमुसलमान को अपने धर्म में दीक्षित देखकर प्रसन्न होता है और एक मुसलमान को दूसरा धर्म ग्रहण करता देखकर दुःखी होता है। यह उसका स्वभाव बन गया है।

ईसाई तो और भी आगे हैं। वे तो असभ्यों को ईसाई बनाने के लिए, अपने जीवन की बलि तक देने से नहीं हिचके! यह उन्हीं के महान् प्रयत्नों का परिणाम है कि जिन भू-खण्डों में किसी समय नर-भक्षी निवास करते थे, वहाँ आज उन्हीं के वंशजों के सुघर घर बन गए हैं और एक सभ्य मानव का जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

ये दो दृष्टान्त उन लाड़ले मानवों के हैं, जो **'ब्रह्म-पाश'** से किसी तरह निपुच गए थे और अब पुनः वैसी भूल न कर बैठें, इसके लिए पाश में अच्छी तरह कस लिए गए हैं। पर, जिन्होंने उस **'पाश'** को प्रारम्भ में ही सादर ग्रहण किया था, वे तो तभी से उसके सहारे चुपचाप अपना जीवन-यापन करते जा रहे हैं। फलतः उनके लिए **'पाश'** कभी कसा नहीं गया। उन्होंने प्रभु के सभी आदर्शों का पालन किया, जिससे उस परम शान्ति का अनुभव किया--जो जीव का एक-मात्र लक्ष्य है।

यही कारण है कि हिन्दू--**'धर्म के प्रेम में'** पागल नहीं रहते, किन्तु उनका सारा जीवन ही **'धर्म-मय'** रहता है। उनके **'धर्म-मार्ग'** से विचलित न होने का कारण भी यही है। **'धर्म के ब्रह्म-पाश'** को ईश्वरीय आदेश मानकर हिन्दुओं ने अपने जीवन को जो धर्म-रूप प्रदान किया है, वही बात हिन्दुओं को मानव-समाज में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किए हुए है।

आब्रह्म-तृण-पर्यन्त स्रष्टा की छवि निहार कर हिन्दुओं ने जिस जीवन का एक ध्येय निर्दिष्ट किया है, वही तो संसार में **'अमर जीवन'** कहा गया है। और इस 'अमर जीवन' का साकार बोध एक-मात्र **तान्त्रिक साधक** को होता है। इसी से वह रहस्य-पूर्ण माना गया है।

१२ परमार्थ की खोज

'परमार्थ' क्या है? इसका पता आज तक नहीं लग सका। संसार के सभी देशों के मनीषियों ने उसकी खोज में सिर धुना है, परन्तु उसका रहस्य कोई नहीं जान पाया। इस विश्व में एक **'परमार्थ'** ही ऐसा है, जो अभी तक अज्ञात है। वह विश्व का एक अद्भुत पदार्थ है, इसमें सन्देह नहीं। तभी तो उसके खोजी 'मनीषी' कहलाए और मानव-समाज में पूजनीय हो गए, भले ही वे अपनी जीवन-यात्रा भर भटकते ही फिरे हों।

आज वही 'अज्ञात' एवं 'अद्भुत' विषय **'परमार्थ'** इतना सस्ता हो गया है कि कोई भी उसे प्राप्त कर सकता है ! कम-से-कम हमारे देश में तो उसकी गली-गली दुकानें लगी हुई हैं और उसे कोई भी खरीद सकता है ! यह सत्य है कि इस देश में परमार्थ की बहुत अधिक चाह रही है, जिसके कारण यहाँ उसकी सबसे अधिक चर्चा हो सकती है और यहाँ ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है, परन्तु यह भी सत्य है कि हमारे यहाँ 'परमार्थ' कभी बाजारू नहीं रहा है। आज व्यवसायी वृत्ति के लोग उसे बाजार की वस्तु बनाए डाल रहे हैं, यह भ्रान्ति नहीं तो और क्या है ?

अपने देश की उक्त भ्रान्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी होती जा रही है। बात यह है कि जो बात जान-बूझकर की जा रही है, उसकी रोक-थाम कैसे हो ? यह अज्ञान का खेल, जो यहाँ खुलकर खेला जा रहा है, उसमें तो 'परमार्थ' का नाम भर है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि आज यह परम पवित्र देश अपवित्रता का आगार हो गया है और अवनति उसके गले का हार बन रही है। यदि हमारे **'परमार्थ'** के ठेकेदारों में वास्तविकता का थोड़ा भी आभास होता, तो आज इस देश में 'अनुभूति' का अकाल न होता और न यहाँ मनुष्य ही ईश्वर के स्थान में पूज्य बन बैठते !

जिस देश में **'परमार्थ'** का दर्शन प्राप्त करने के लिए बड़े-से-बड़े उपाय बेकार सिद्ध हो गए, वहाँ उसका बात-की-बात में अनुभव करा देने का जो दावा किया जाता है, उसको निःसार कह देना सचमुच ही साहस का काम होगा और ऐसा साहस कितनों में है—जो स्पष्ट शब्दों में इस निरे ढोंग का भण्डा-फोड़ कर सकें ?

जिस पदार्थ की प्राप्ति के लिए हमारे पूर्वजों ने त्याग, भक्ति, साधना आदि मार्गों का निर्देश किया है और जिनका अनुधावन करने के लिए संयम, अनुशीलन आदि के रूप में अनेक उपाय बताए गए हैं—उसी को यहाँ चुटकी बजाते उपलब्ध करा देने का दावा किया जा रहा है ! यह सब पाखण्ड और ठग-विद्या के सिवा और क्या हो सकता है ?

कौन नहीं जानता कि **'परमार्थ'** इतनी सस्ती वस्तु नहीं है, परन्तु यह जानते हुए भी लोग अपने को ठगा रहे हैं। वे समझते हैं कि जब सोना कौड़ी मोल मिल रहा है, तब वह क्यों न खरीद लिया जाए ! लोभ के प्रभाव में आकर वे उसे कसौटी पर कसकर देखना भी नहीं चाहते कि वह खरा है या खोटा !

वस्तुतः यह हमारा ही अज्ञान है, जो **'परमार्थ'** की दुकानें यहाँ गली-गली लग गई हैं। कोई उसकी उपलब्धि जरा-सा नाक दाब लेने के द्वारा ही करा रहा है, तो कोई केवल विचार के परिष्कार से, तो कोई नाम - जप से ! जिसकी साधना के लिए बड़ी - बड़ी योग - क्रियाएँ बताई गई हैं, बड़ी-बड़ी साधनाएँ निर्दिष्ट की गई हैं, चिन्तन और मनन के बड़े-बड़े आकार बताए गए हैं और यहाँ तक कह दिया है कि एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में उसकी उपलब्धि सम्भव है, वही यहाँ आज टके मोल बिक रहा है ! यह सब क्या है ? अज्ञान और विडम्बना के चमत्कार के सिवा और क्या कहा जाए !

ऐसी भीषण परिस्थिति में इस बात की आवश्यकता है कि लोग सावधान हो जाएँ और यदि वे **'परमार्थ'** की प्राप्ति चाहते हैं, तो समझ-बूझकर आगे पैर बढ़ाएँ और बाजारू ऊहा-पोह में पड़कर अपने को भ्रम का शिकार न बनाएँ।

जिज्ञासुओं के लिए आज भी वेदों का मार्ग सुलभ है, योग और ब्रह्म-विद्या की साधनाओं की शिक्षा का अभाव नहीं है, सरल-तम तान्त्रिक साधनाएँ अलग प्राप्त हैं। ऐसी दशा में इनका आश्रय न ग्रहण कर, आज लोग इधर-उधर क्यों भटक रहे हैं, अज्ञान और मूढ़ता के चक्कर में क्यों पड रहे हैं? ऐसी कौन जल्दी है कि 'परमार्थ' की उपलब्धि शीघ्र-से-शीघ्र हो ही जाए? कर्म-विपाक तक उसकी प्रतीक्षा करने में हानि ही क्या हो जाएगी?

अतएव हमें धैर्य धारण करना चाहिए और श्रद्धा - पूर्वक अपने **'कुल-धर्म'** को स्वीकार करना चाहिए। अपने **'कुल-धर्म'** का परित्याग भूलकर भी न करना चाहिए। कहा भी है—**'स्व-धर्मे निधनं श्रेयः, पर - धर्मो भयावहः।'** **'कुल - धर्म का अनुधावन'** करने से ही **'परमार्थ'** की उपलब्धि होगी, इसमें संशय नहीं।

१३ मौके की चेतावनी

काशी का **'भारत-धर्म-महा-मण्डल'** भारत के सनातन-धर्मावलम्बियों की सर्व-प्रधान संस्था है। वस्तुतः यही एक ऐसी संस्था है, जिसने हिन्दू-शास्त्रानुमोदित 'हिन्दू-धर्म' की निर्भय होकर रक्षा की है; जो अपने पवित्र सिद्धान्तों पर, बार-बार नाना प्रकार से सङ्कट आने पर भी, सोत्साह डटी रही है। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'**—इस पवित्र भगवद्-वाक्य का इस पवित्र संस्था ने भूलकर भी मखौल नहीं उड़ाया है, वरन् बराबर उसका महत्त्व ही प्रतिपादित करती रही है।

इसके ऐसे ही सुदृढ़ धर्म-भाव का यह सुपरिणाम है कि यह तन्त्रों का महत्त्व बराबर स्वीकार करती रही है और इसने उसके आचारों का भी उसी रूप में समर्थन किया है। हाल में उक्त संस्था के प्रमुख पत्र में मन्त्रों के सम्बन्ध में महत्त्व-पूर्ण विचार प्रस्तुत हुए हैं, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। आशा है कि पाठक इन्हें ध्यान से पढ़ेंगे—

"...इस समय **'वेद'** का बहुत अंश लुप्त हो गया है। उसकी ११८० संहिताओं में से केवल छः या सात संहिताएँ उपलब्ध हैं। हमारे शास्त्र के अनुसार 'वेद' नष्ट नहीं होगा। 'ब्रह्म-लोक' में रहेगा और अगले 'सत्य-युग' में फिर पूर्ण 'वेद' प्रकाशित होगा। इस समय जो 'कर्म-काण्ड' और 'उपासना-काण्ड'—भारत-खण्ड में प्रचलित हैं, वह सब या तो तान्त्रिक है या वैदिक और तान्त्रिक मिला हुआ है।

"वेदों में जिस प्रकार से सर्व-ज्ञान-राशि का मूल विद्यमान है, ऐसे ही तन्त्रों में 'कर्म-काण्ड' तथा 'उपासना-काण्ड' का पूरा खजाना उपलब्ध है। वेद, उप-वेद और षड्-दर्शनों के मौलिक रहस्यों से 'तन्त्र' भरे हुए हैं। आयुर्वेद का तो बड़ा भारी खजाना 'तन्त्र' है। रसायन-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, स्थापत्य-शिल्प-शास्त्र आदि सबका विस्तृत वर्णन तन्त्रों में पाया जाता है। दैवी जगत् के सम्बन्ध में जैसा विस्तारित रहस्य-वर्णन तन्त्रों में है, वैसा कहीं नहीं पाया जाता। हजारों तन्त्र-ग्रन्थों के इस समय लुप्त हो जाने पर भी अब भी उसका बहुत कुछ अंश उपलब्ध है। कर्म-सम्बन्धी आचार और उपासना-सम्बन्धी आचार का सर्व-जीव-हितकारी खजाना तो तन्त्रों में ही मिलता है।

"आचार के साधारणतः चार भेद हैं—१ **श्रौताचार,** २ **स्मार्त्ताचार,** ३ **पौराणिक आचार** और ४ **तन्त्राचार**। इन चार प्रकार के आचारों के अनुसार चार प्रकार की कर्म-शैली और चार प्रकार की उपासना-शैली के भेद भी शास्त्रों में पाए जाते हैं। तत्त्वतः ये चारों भेद बुध-जन द्वारा स्वीकृत नहीं हैं

क्योंकि 'वेद' की स्मृतियों से ही 'स्मृति'-शास्त्र बना है। 'पुराण' वेद के भाष्य-ग्रन्थ हैं और 'तन्त्र'—वैदिक सिद्धान्तों को सहज बोध्य रूप से प्रकाशित करनेवाले ग्रन्थ हैं। अन्ततः चारों में जो भेद प्रतीत होता है, वह तत्त्वतः नहीं है।

"तन्त्र-शास्त्र-समूह ने वैदिक सिद्धान्तों को सुगम कर दिया है। इस कारण पूर्व-कथित—१ वेद, २ स्मृति, ३ पुराण के कर्म-काण्ड और उपासना-काण्ड के साथ 'तन्त्र' का विशेष भेद दिखाई पड़ता है। वेद, स्मृति, पुराण के साथ 'तन्त्र' का काल और पात्र के सम्बन्ध में विशेष भेद है। 'तन्त्र' भी प्राचीन ग्रन्थ हैं क्योंकि तान्त्रिक आचार-विशेष का वर्णन पुराणों में पाया जाता है।

"वेद में, स्मृति में और पुराण में अपने-अपने ढङ्ग का एक ही प्रकार का 'आचार' वर्णित है, किन्तु तन्त्रों में वैसा नहीं है। अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में तान्त्रिक आचार तीन तरह के माने गए हैं। यथा—**१ पश्वाचार** अर्थात् **दक्षिणाचार, २ वीराचार** अर्थात् **वामाचार** और ३ **दिव्याचार**। इन तीन सिद्धान्तों के अनुसार नाम-भेद भी अनेक पाए जाते हैं, परन्तु सिद्धान्ततः ये तीन ही मौलिक भेद हैं।

"धर्म-अधर्म के सिद्धान्तों का निर्णय करते समय पूज्य-पाद महर्षियों के कई मत पाए जाते हैं। इन मतों को मुख्य रूप से तीन मतों में विभाजित किया जा सकता है। पहले मत के अनुसार—**श्रुति-विहित कर्म को ही धर्म कहते हैं। श्रुति-विरुद्ध मार्ग को अधर्म कहते हैं।** इस सिद्धान्त को ही मान-कर तन्त्रों ने पहला आचार **'दक्षिणाचार'** अर्थात् 'पश्वाचार' स्वीकार किया है, जिसके अनुसार श्रुति-स्मृति-पुराण द्वारा विहित कर्म ही धर्म है और इन तीनों में जिसकी विधि नहीं है, वह अधर्म है।

"मीमांसा-शास्त्र का धर्म-अधर्म के विषय में एक मत यह है कि सर्व-शक्ति-मान् भगवान् का स्मरण कर, उन्हीं के उद्देश्य से जो कर्म किया जाए, वह 'धर्म' है। तन्त्रोक्त **'वीराचार'** अर्थात् **'वामाचार'** में इसी सिद्धान्त का अवलम्बन किया गया है।

"वेद के मीमांसा-शास्त्र में धर्म-अधर्म के निर्णय का तीसरा मत पाया जाता है। वह यह है कि जिस शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक कर्म के द्वारा सत्त्व-गुण की वृद्धि हो, वह 'धर्म' है और जिससे तमो-गुण की वृद्धि हो, वह 'अधर्म' है। इसी सिद्धान्त को मानकर 'तन्त्र' में **'दिव्याचार'** अर्थात् **'सिद्धान्ता-चार'** निर्णीत हुआ है।

"अतः इन्हीं तीनों सिद्धान्तों का अवलम्बन कर सब श्रेणी के जीवों के कल्याण के लिए तीन विभिन्न आचार 'तन्त्र' में अलग-अलग बताए गए हैं। तन्त्रों का यह दूषण नहीं, भूषण है। वस्तुतः **'पश्वाचार'** और **'वीराचार'** के अधिकारी अन्त में **'दिव्याचार'** (सिद्धान्ताचार) का ही अवलम्बन करते हैं। 'वामाचार' में विधि-निषेध का विचार नहीं है—सत्त्व-गुण और तमो-गुण का विचार नहीं है। केवल विचार यह है कि—'कर्म' को सर्व-शक्ति-मयी ईश्वरी में अर्पण कर तद्-भावापन्न होकर ही 'कर्म' किया जाए। इसमें सन्देह नहीं कि भगवद्-भावापन्न होकर 'कर्म' करने से, 'कर्म' का बन्धन नहीं होता और उससे स्वतः अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती रहती है, परन्तु अल्पज्ञ जीव कहाँ तक भगवद्-भावापन्न हो सकता है? अल्प-शक्ति-विशिष्ट जीव कहाँ तक संयमी हो सकता है? और असंयमी विषया-सक्त स्वार्थी जीव कहाँ तक जगदीश्वर या जगदीश्वरी में अपने कर्मों को अर्पण कर सकता है?

"अतः ऐसे भय-बहुल आचार में 'पतन' की सम्भावना रहने से, उसका रहस्य न जानने से कोई-कोई लोग **'वीराचार'** की निन्दा करते हैं, परन्तु जिन्होंने वेद, पुराण और तन्त्रों को अच्छी तरह से पढ़ा है, वे यही कहेंगे कि बड़े-से-बड़े अधिकारी और छोटे-से-छोटे अधिकारी तथा सभी अवस्था के मनुष्यों के आचार - समूह एवं विचार - समूह की दृष्टि से 'तन्त्र - शास्त्र' उपयोगी होने के कारण सर्व - जीव-हितकारी है।

"आज-कल के कलि-कल्मष से दूषित अनाचार के समय में तो 'तन्त्र-शास्त्र' ही एक-मात्र सहायक है। विचार करने से समझ सकते हैं कि रेल-यान, आकाश-यान, भीड़-युक्त दूषित वातावरण आदि की अवस्था में एक-मात्र **'वामाचार'** या **'वीराचार'** के सिद्धान्त ही हिन्दुत्व की रक्षा कर सकते हैं। यदि वेदोक्त और स्मृति-युक्त आचार-विचार माना जाए, तो आज-कल निर्वाह नहीं हो सकता और यदि ऊपर कथित 'वीराचार' के सिद्धान्त माने जाएँ, तो आज-कल के भीड़-युक्त दूषित वातावरण के संसर्ग में भी हिन्दू-जाति अपने विशेषत्व और हिन्दुत्व की रक्षा किसी प्रकार कर सकती है।

"ॐ अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ इत्यादि मन्त्र 'तन्त्र-शास्त्र' के ही हैं। ऐसे मन्त्रों की सहायता से भक्ति-मान् हिन्दू साधक अपने अस्तित्व की रक्षा इस आपत्-काल में भी कर सकता है। 'वैदिक कर्म-काण्ड' का चलाना असम्भव हो जाने से 'तान्त्रिक कर्म-काण्ड' से ही वर्णाश्रम-धर्मियों की आत्म-रक्षा सम्भव है। अतः कलियुग में 'तन्त्र-शास्त्र' का महत्त्व सर्वोपरि है।..."

इन विचारों में स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया गया है कि 'आज की दुनिया' में यदि हिन्दू अपने धर्म की रक्षा कर सकते हैं, तो 'तन्त्र' के **'वीराचार'** को ही ग्रहण करके।

यह **'मौके की चेतावनी'** देकर निश्चय ही 'भारत-धर्म-महा-मण्डल' ने वास्तव में अपने कर्त्तव्य का ही पालन किया है।

१४ शाक्तों का 'तन्त्र-शास्त्र'

आर्य-संस्कृति में तन्त्र, ज्योतिष और आयुर्वेद प्रत्यक्ष शास्त्र कहे गए हैं। प्रत्यक्ष शास्त्र का मतलब यह है कि इनमें जो कुछ लिखा है, उसको कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष करके देख सकता है।

'शाक्त-धर्म' का मुख्य आधार 'तन्त्र-शास्त्र' होने के कारण, जो भी व्यक्ति 'शाक्त' होता है, वह यही समझ कर शाक्त होता है कि वह अपनी 'तान्त्रिक साधना' के द्वारा कर्तुं मकर्तुं समर्थ हो जाएगा। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज के होनेवाले शाक्तों का मनोभाव बहुत कुछ विकृत हो गया है। वे ऐसे ही गुरु की खोज करते हैं, जो ऐसा सिद्ध हो कि उसके प्रसाद-मात्र से उन्हें तत्काल सिद्धि प्राप्त हो जाए। अर्थात् वे शास्त्र की रीति के द्वारा अथवा गुरु के बताए हुए सरल मार्ग द्वारा साधन-कष्ट उठाने को कटि-बद्ध नहीं होना चाहते। वे यही चाहते हैं कि गुरु-देव उनके मस्तक पर अपना हाथ रखकर, उन्हें ऐसी सिद्धि प्रदान कर दें कि वे अपनी सभी मानसिक कामनाओं को चुटकी बजाते पूर्ण कर लें।

इसमें सन्देह नहीं कि 'तान्त्रिक साधना-क्रम' अल्प-काल के परिश्रम से ही साधक को सभी कुछ प्रदान कर सकता है, परन्तु आज तो यह अवस्था है कि कोई भी साधना करना चाहता ही नहीं। आसन

लगाकर, शुद्ध मन से, कुछ काल तक देवता का अर्चन करना सभी को भार-सा मालूम पड़ता है, जिसका
परिणाम यह हुआ है कि तान्त्रिक साधना आज निस्तेज-सी होती हुई प्रतीत होती है। इसमें गुरुओं का
उतना दोष नहीं है, जितना कि स्वयं साधकों का।

'गुरु' का काम केवल इतना ही है कि वह 'शिष्य' को 'मन्त्रोपदेश' कर, उसका 'साधन-क्रम' उसे
ठीक-ठीक बतला दे। बस, इससे अधिक नहीं। अब, साधकों का काम है कि वे अपनी साधना को गुरु
के बताए हुए विधान से यथा - विधि करें और यदि एक बार के प्रयत्न में उसे सफलता न मिले, तो उसे
तब तक करता रहे, जब तक पूर्ण सफलता न मिल जाए।

'तन्त्र-शास्त्र' की यह विशेषता है कि यदि उसका साधन-क्रम यथा–विधि किया जायगा, तो वह
अवश्य ही सफल होगा। उसी तरह, जैसे ज्योतिष का गणित यह पहले ही से बता देता है कि इतने
बज कर–अमुक समय पर सूर्योदय होगा तथा आयुर्वेद का अमुक क्वाथ, अमुक रोग को इतने दिन में
ठीक कर देगा। जैसे ज्योतिष और आयुर्वेद प्रत्यक्ष फल प्रदान करते हैं, वैसे हो शाक्तों का 'तन्त्र-शास्त्र'
भी। जरूरत है, उसके स-विधि अभ्यास की।

१५ भ्रान्ति का निराकरण

अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय लोग प्रायः कहा करते हैं कि **'काली'** आदि देवियों की पूजा आर्य
लोगों की पूजा नहीं है, किन्तु यह पूजा उन्होंने भारत में आने पर—यहाँ के असभ्य वन-वासी अनार्यों से
सीख ली है! उनका यह कहना स्वयं उनके किसी गम्भीर अन्वेषण का फल नहीं है, किन्तु उनके गुरु
अंग्रेजों ने उन्हें इस सम्बन्ध में जो कुछ सिखाया है—वही वे तोते की तरह रटते रहते हैं। उनके गुरु
अंग्रेजों ने उन्हें यह भी सिखाया है कि हमारे पूज्य वेदों के सूक्त प्रारम्भिक काल के आर्य चरवाहों के
गीत-मात्र हैं। ये दोनों उक्तियाँ सर्वथा भ्रम-पूर्ण हैं।

हम मानते हैं कि अंग्रेज लोग अच्छे विद्वान् हैं और जो बात लिखते तथा कहते हैं, वह विशेष रूप
से तर्क-पूर्ण होती है, परन्तु हम क्या, कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति उपर्युक्त उक्तियों को सर्वथा निर्भ्रान्त मानने
को तैयार नहीं होगा। यह भले प्रकार सिद्ध हो चुका है और इसे स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्त
कण्ठ से स्वीकार किया है कि 'वेद' के सूत्र—दार्शनिक रहस्यों से युक्त हैं तथा वे चरवाहों के गीत नहीं
ठहराए जा सकते।

इसी प्रकार—**'काली' आदि देवियों की पूजा के धर्म को भी भले प्रकार सिद्ध किया जा चुका है
कि यह वैदिक आर्यों का अति प्राचीन धर्म है।** इस बात को अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने स्वयं अनुभव
करके स्वीकार किया है, परन्तु जो लोग भ्रान्त हैं और भ्रान्त रह कर दूसरों को भी भ्रान्त बनाए
रखना श्रेयस्कर समझते हैं, उन्हें यदि स्वयं ब्रह्मा आकर समझावें, तो भी वे नहीं मानेंगे। वे तो अपनी
बात कहते ही रहेंगे। अब रही यह बात कि 'काली' आदि देवियों की पूजा का प्रचार दस्युओं और
दानवों में आज भी खूब है, तो इसमें दोष की क्या बात है? वरदा, अभयदा जगत् - जननी की पूजा
का सभी को अधिकार प्राप्त है। सपूत और कपूत दोनों ही अपनी माँ के कृपा - कटाक्ष के भूखे
रहते हैं।

अतएव माँ काली की पूजा को अनार्यों की पूजा बतानेवाले भ्रान्त ही माने जाएँगे। उनको इसके
रहस्य का ज्ञान ही नहीं हो सकता। जिन्होंने आर्यों के प्राचीन ग्रन्थों का ध्यान - पूर्वक अध्ययन किया है

तथा जिनको आर्यों की संस्कृति का पूरा ज्ञान है, वे जानते हैं कि—'काली' आदि देवियों की पूजा अर्थात् 'शाक्त-धर्म' उतना ही प्राचीन तथा आर्ष है, जितने कि स्वयं आर्य।

हमारे निन्दक, अंग्रेजी पढ़े-लिखे बन्धुओं को उनके गुरु अंग्रेज विद्वान् कब यह चाहेंगे कि उनके शिष्य अपने पूर्वजों की 'वीर-पूजा' का आदर्श अपनाएँ। फलतः उन्होंने इस भोले-भाले देश में अपनी जाति की सत्ता बनाए रखने के लिए ऐसी ही शिक्षा देना ठीक समझा, जिससे इस देश के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग प्राचीन आर्य-संस्कृति का तिरस्कार करें। तथापि ज्ञान को सदा प्रश्रय देनेवाले, इस पवित्र भूमि के सभी आर्य धर्म-भीरु, उनके प्रचार के शिकार नहीं हो सके। यही कारण है कि सदियों की विकट परिस्थितियों को पार कर, उनकी अमर आदि-संस्कृति उनके इस पवित्र देश में ज्यों-का-त्यों बनी हुई है। साथ ही, वह दिन भी दूर नहीं है, जब हमारे भ्रान्त अंग्रेजी पढ़े-लिखे बन्धु अपनी भ्रान्तियों को छोड़ कर ठीक राह पर आ जाएँगे।

१६ बंगालियों की दुर्गा-पूजा

'बङ्गालियों की दुर्गा-पूजा'—इस वाक्य का इस देश में खासा प्रचार है, परन्तु यह भ्रम-पूर्ण है। **'दुर्गा-पूजा'** केवल बङ्गाल की ही पूजा नहीं है, किन्तु वह एक देश-व्यापी पूजा है।

यह सच है कि जिस विधि से बङ्गाल में 'दुर्गा-पूजा' की जाती है, उस विधि का उत्तर भारत के दूसरे प्रान्तों में अभाव है, परन्तु यह अभाव कारण-विशेष से हुआ। जब उत्तर भारत में, एक ऐसा समय आया कि वहाँ के सारे देव-मन्दिर ढहा दिए गए, तब मूर्ति-भञ्जकों की प्रबलता के कारण—उत्तर-भारत की 'दुर्गा-पूजा' में, मिट्टी की दुर्गा जी की मूर्ति बनाना बन्द कर दिया गया और केवल 'घट-स्थापन' कर तथा भगवती की कोई धातु-मयी प्रतिमा रख कर 'दुर्गा-पूजा' का निर्वाह किया गया।

तथापि आज भी कहीं-कहीं लोग, अपने घरों में दुर्गा जी की मिट्टी की मूर्ति बनाकर अपना 'नव-रात्र' का पूजन सम्पन्न करते हैं। मेरठ नगर में एक मन्दिर में मिट्टी की दुर्गा जी की मूर्ति बनाकर, दोनों नवरात्रों में उसकी पूजा आज भी की जाती है। वस्तुतः 'नवरात्र-पूजा' की यही प्राचीन विधि भी है। 'दुर्गा सप्तशती' में इसका सङ्केत भी है। राजा सुरथ और समाधि वैश्य ने मिट्टी की ही देवी-मूर्ति बनाकर अपनी पूजा की थी। अतएव इसका तभी से सारे देश में प्रचार रहा है।

प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उत्तरी भारत में 'नवरात्र-पूजा' की इस विधि का लोप हो गया। आज यहाँ तक नौबत आ पहुँची है कि यहाँ के निवासी इस बात को भी भूल गए हैं और उसे 'बङ्गालियों की दुर्गा-पूजा' कह कर अपने अज्ञान का परिचय देते हैं। कम-से-कम उत्तर भारत के शाक्तों को इस त्रुटि का विशेष रूप से अनुभव करना चाहिए। उनका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने उत्तर भारत में, दोनों 'नव-रात्रों' के अवसर पर मिट्टी की 'दवी-मूर्ति' बनाकर, अपनी प्राचीन पूजा-विधि का पुनरुद्धार करें।

१७ शाक्त-धर्म का संदेश

'शाक्त-धर्म' का भारतीय धर्मों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। जिन्होंने भारतीय धर्मों का इतिहास पढ़ा है, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। 'बौद्ध-धर्म' ही को लीजिए। उसके 'महा-यान-सम्प्रदाय' की रचना 'शाक्त-धर्म' के प्रभाव ही के कारण हुई है। इसी प्रकार 'जैन-धर्म' में आगमों का बाद को

अत्यधिक प्रचार हो गया। इनके आगम एवं पद्मावती आदि की पूजा 'शाक्त-धर्म' के प्रभाव का ही फल है।

पौराणिक वैष्णव, शैव, गाणपत्य, सौर्य आदि सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव तो 'शाक्त-धर्म' का प्रत्यक्ष प्रभाव सर्वथा सिद्ध ही है। इनके सिवा बाद को भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा जो सम्प्रदाय चलाए गए, वे भी शाक्त-धर्मानुशासनों से अपने को बचा नहीं सके।

मुसलमान-कालीन युग में भारत में जो नए-नए संत-मत प्रचलित किए गए, उनके 'सद्-गुरु' तथा 'सुरति-योग'–'शाक्त-धर्म' की ही प्रकट विभूतियाँ हैं।

यह सब होते हुए भी आश्चर्य की बात यह है कि इन भारतीय धर्मों के अनुयायी 'शाक्त-धर्म' को उसका वांछित गौरव नहीं मानते। गौरव करना तो दूर रहा, उल्टा उसकी निन्दा करते हैं। जिस 'शाक्त-धर्म' ने इनके जन्म-काल से लेकर उन्नत होने तक इनको मार्ग प्रदर्शित किया तथा अपने सिद्धान्तों एवं अपनी उपासना-प्रक्रियाओं से इन्हें महत्त्व प्राप्त करने दिया, उसी को आज ये सब विगर्हणा का पात्र समझते हैं। कृतघ्नता का यह कैसा अनोखा उदाहरण है!

१८ हिन्दू-समाज और युग-धर्म का महत्त्व

आज देश के विशाल हिन्दू-समाज को जिस विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है, उस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ नहीं लिखना चाहते। हम यहाँ केवल यही कहना चाहते हैं कि इस विशाल भू-मण्डल में एक-मात्र भारत-वर्ष ही हिन्दुओं का देश है, परन्तु सदियों के पारस्परिक कलह के कारण भारत-वर्ष जैसी पवित्र हिन्दू-भूमि का एक अति पुनीत-तम अंश उसकी प्राचीन स्वाभाविक सीमा से बाहर हो गया है—वह भू-भण्ड, जिसमें आज भी वेद-विदित सरयू और कुभ नाम की उसकी पवित्रतम नदियाँ बहती हैं और नाम का परिवर्तन हो जाने से हम अज्ञानता-वश उनका गौरव भूल चुके हैं।

यही नहीं, इस समय उससे भी भीषण स्थिति उत्पन्न हो गई है और ऐसा जान पड़ता है कि हमारे देश की वह पवित्र भूमि भी हमारे हाथों से निकल जानेवाली है, जहाँ सदियों तक हमारे वैदिक ऋषियों ने 'अमर वेद-मन्त्रों' का गान करके सारे भारत को आर्यत्व प्रदान किया था।

इन परिस्थितियों का मूल कारण यही है कि आज के करोड़ों हिन्दू-समाज को अपने ईश्वर पर विश्वास नहीं रहा, नहीं तो जिस देश के निवासियों को स्वयं जगज्जननी पराम्बा ने यह कह कर अभय किया था कि—'**इत्थं यदा-यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति, तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम्**'—वे आज यदि उसको भूले न होते, तो इस दुर्गति को कदापि न प्राप्त होते।

हम वर्षों से देश के अपने बड़े-से-बड़े नेता को यह पुकारते सुन रहे हैं कि—'**सङ्गठित हो! सङ्गठित हो!!**'—परन्तु कहीं किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। हिन्दू-समाज यह सब होते हुए भी वैसा ही पहले की तरह अजाग्रत्, आलस्य-मोह-निद्रा-ग्रस्त तथा अचेत पड़ा हुआ है!

हमारे लोक-नेताओं के इस ओर किए गए सारे प्रयत्न केवल इसी कारण बेकार सिद्ध हो रहे हैं कि वे 'धार्मिक भाव' को लेकर नहीं उठते। हिन्दू-जाति, धर्म-जीवी जाति रही है और आज भी है यदि उसको वैदिक संस्कृति का अमृत-पान कराया जाए, तो वह पहले ही की भाँति अपने शौर्य और बल-पराक्रम से ओत-प्रोत हो सकती है। हम आचार्यों का इसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते रहे

हैं कि वे हिन्दू-जाति को, जो पिछले सात सौ वर्ष के पराभव-काल में धर्माचार्यों द्वारा अपने पूर्वजों के 'वैदिक-धर्म' से पद-भ्रष्ट की जा चुकी है, उसे उसका मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए आगे आएँ और सारे देश में नव-जीवन का एक आदर्श उपस्थित करें, परन्तु हमारे आचार्य भी, जान पड़ता है कि देश की परिस्थिति से उदासीन हैं।

प्रसन्नता की बात है कि हिन्दू - जाति के हितैषी लोक-नेताओं के, इधर की कुछ भीषण और जघन्य घटनाओं ने, कान खड़े कर दिए हैं और वे पुनः सचेष्ट होकर हिन्दू-सङ्गठन की बात करने लगे हैं। वे अपने प्रयत्नों में तभी सफल होंगे, जब 'धर्म' को अपने कार्य-क्रम में प्रधान स्थान देंगे। जब तक हम वैदिक संस्कृति को लेकर सङ्गठन का कार्य नहीं करेंगे, तब तक न तो हमारा सङ्गठन ही हो सकेगा और न हम हिन्दू-जाति तथा उसकी पवित्र मातृ-भूमि भारत-वर्ष की अखण्डता की रक्षा ही कर सकेंगे। जगज्जननी पराम्बा से हमारी यही प्रार्थना है कि वह हमें बुद्धि दे, जिससे हम 'युग-धर्म' के महत्त्व को समझें और उस 'युग-धर्म' को मानें, जिसे महेश्वर ने कलि के लिए बताया है और महर्षि वेद- व्यास तक ने **'संघे शक्तिः कलौ युगे'** कह कर हमें स्पष्ट रूप से सचेत किया है।

१९ आस्तिक हिन्दू-समाज की पथ-भ्रष्टता का कारण

भारतीय वैदिक धर्म-भावना के लिए वह दिन सचमुच ही अशुभ था, जब कोशल देश के वृद्ध ब्राह्मण महात्मा गौतम बुद्ध से जेतवन जाकर मिले थे और उनसे यह पूछा था कि 'आज भारत में प्राचीन भारतीय धर्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं या नहीं ?' इसका जो महत्त्व-पूर्ण उत्तर बुद्ध-देव ने दिया था, उस प्रसङ्ग में उन्होंने यजुर्वेद-वर्णित अश्व-मेधादि प्रमुख यज्ञों का प्रचलित अर्थों के विपरीत विलक्षण लाक्षणिक अर्थ किया था। उनके उस प्रकार के विचारों का प्रचलित 'वैदिक धर्म' पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। कालान्तर में उनकी उस प्रकार की अर्थ करने की पद्धति का देश में इतना अधिक प्रचार हो गया कि उनसे कोई १२०० वर्ष बाद जन्म लेनेवाले 'वैदिक धर्म' के पुनरुद्धारक कुमारिल भट्ट को भी, अपने सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए महात्मा बुद्ध की उक्त अर्थ-प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा था और उनको भी ऋग्वेद में वर्णित अहल्या और इन्द्र की कथा को रूपक बताकर 'वैदिक धर्म' के विरोधियों से अपना पिण्ड छुड़ाना पड़ा था। बाद को तो, इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ करने की पद्धति देश में इतना जड़ पकड़ गई कि आज के कितने ही विद्वान् 'पुराण' और 'महा-भारत' आदि ग्रन्थों को भी रूपक बताने में अपनी बुद्धि का गौरव मानते हैं !

इस प्रणाली का सबसे अधिक दुष्प्रभाव यह पड़ा कि तर्क-प्रेमी दार्शनिक, हिन्दुओं के 'बहु-देववाद' को साफ हवा में उड़ा देने का प्रयत्न करते रहते हैं और इसी में वे अपनी दार्शनिकता की सार्थकता समझते हैं ! इस समय क्या, देश में इधर सदियों से, यहाँ के विद्वानों को बुद्धि की अजीर्णता का रोग रहा है और वे धर्म-सम्बन्धी सभी बातों को अपने दार्शनिक दृष्टि-कोण से ही तौलते चले आ रहे हैं। वे यह तक नहीं विचार करते कि उनकी दार्शनिक तर्क-प्रणाली से देश की आस्तिक 'धर्म-भावना' को कितनी गहरी ठेस लग रही है और अल्पज्ञों में कितना अधिक नास्तिकता का व्यापक प्रसार होता जा रहा है।

चाहे जो हो, सत्य-सत्य ही है। आज के तत्त्व-वादी — **'एको ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति'** का जो भारी निनाद करते रहते हैं, वह भ्रम भी एक-न-एक दिन अवश्य दूर हो जाएगा और सत्य क्या है, वह अपने-

आप प्रकट हो जाएगा। वैदिक 'धर्म-भावना' जहाँ **'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** की उत्कृष्ट भावना का आदर करती है, वहीं वह **'एकोऽहं बहु स्याम:'** का भी बड़े आदर के साथ उद्घोष करती है अर्थात् ब्रह्म भी है और देवता भी हैं। यही सत्य है। इस सत्य का आदर न करके आस्तिक हिन्दू-समाज आज बहुत अधिक पथ-भ्रष्ट हो चुका है और उसमें नास्तिकता-वाद ओत-प्रोत होकर भर गया है।

तथापि शङ्कर का 'तन्त्र-वाद' उपर्युक्त असत्य का विनाश करने के लिए आज भी जीवित है और उसकी लोक-कल्याणकारी भावना पूर्व-वत् स्थापित है। वह दिन दूर नहीं, जब आस्तिकों की निद्रा भङ्ग होगी और वे सत्य को पहचानेंगे।

२० पोथी-वाद, बुद्धि-वाद और सत्य की प्रतिष्ठा

आजकल यह जोरों से कहा जा रहा है कि हिन्दू 'बुद्धि-वादी' हैं। वे पारसियों, यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों आदि की तरह 'पोथी-वादी' नहीं हैं। अतएव अपने को ऐसे साँचे में ढालना चाहिए, जिससे वे 'पोथी-वादियों' के बीच में खप सकें, परन्तु यदि इस कथन में तथ्य होता, तो सचमुच यह बड़ी प्रसन्नता की बात होती। वास्तव में बात ऐसी नहीं है, जैसा कि कहा जा रहा है। कहनेवाले या तो भ्रान्त हैं या किसी कारण-वश जान-बूझकर भ्रान्ति का प्रचार कर रहे हैं। संसार में हिन्दू सबसे पहले हैं, जिन्होंने 'पोथी-वाद' का युगों तक आग्रह किया है। उनका प्राचीन-तम स्वतः प्रमाण 'वेद' आज भी भगवान् के रूप में पूजित हैं और हमारे कथन का प्रमाण दे रहे हैं।

यह सच है कि कुछ 'बुद्धि-वादियों' ने हिन्दुओं को मार्ग-भ्रष्ट करने में बार-बार अत्यधिक सफलता पाई है, तथा उनमें एक बहुत बड़े समुदाय को और कहें तो कह सकते हैं कि अधिकांश को अपने 'पोथी-वाद' का आज भी पूर्व - वत् ही आग्रह बना हुआ है। यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि 'बुद्धि - वादियों' के चक्कर में आकर, जो बहुतेरे लोग पथ-भ्रष्ट हुए थे, वे और उनके अनुयायी 'पोथी-वाद' का आग्रह इसलिए नहीं छोड़ बैठे थे कि वे 'बुद्धि- वाद' के हामी हो गए थे, अपितु उनके 'बुद्धि-वादी' नेताओं ने, उन्हें संसार के दुःखों से मुक्त करने का अत्यधिक सरल उपाय बताने का आकर्षक प्रलोभन उन्हें दिया था। फलतः वे उनकी तरह 'बुद्धि-वादी' तो नहीं हो सके, हाँ 'मानव-पूजा-वादी' जरूर बन बैठे। ऐसा इसलिए हुआ कि हिन्दू स्वभाव से विश्वासी और आस्तिक होते हैं। अपने सहज विश्वास और आस्तिकता के फल-स्वरूप, वे धोखे में अपने बुद्धि-वादी पथ-प्रदर्शकों को अपना त्राण-कर्त्ता समझकर, उन्हीं की पूजा में संलग्न हो गए। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, 'बुद्धि-वाद' की इस बीसवीं सदी में कोई भी भारत में स्थान-स्थान पर होनेवाले 'सत्सङ्गों' में सम्मिलित होकर भले प्रकार पा सकता है।

ऐसी स्थिति में, जो लोग आस्तिक तथा परम विश्वासी हिन्दुओं की पीठ पर थपेड़े लगाकर, उन्हें 'बुद्धि-वादी' होने का बढ़ावा देते हैं तथा इस देश में अपने विचारों के अनुकूल प्रचार का नया वायु-मण्डल तैयार करना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में उनका प्रयत्न आज के 'भ्रान्त हिन्दू-समाज' में भले ही सफलता प्राप्त कर ले, परन्तु जानकार या विज्ञ आस्तिक तथा विश्वास-वादी हिन्दू उनके चकमे में नहीं आ सकते। वे भ्रान्ति-मूलक प्रचार के फन्दे में पड़ने से अपने को बचा लेने में सदैव सजग रहे हैं और आज भी सजग हैं। यह बात दूसरी है कि वे अपनी स्वभाव - गत शान्ति - प्रियता के फल - स्वरूप ऐसे प्रतिक्रिया-वादियों से संघर्ष मोल लेने से सदैव दूर रहे हैं और आज भी रहना चाहते हैं।

अतएव हिन्दुओं को 'बुद्धि-वादी' कह कर, जो लोग अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं अथवा अधिक खुले शब्दों में यह कि हिन्दुओं के समाज को ऐसे रूप में ढाल देना चाहते हैं कि उनका इस देश में बसनेवाली अन्य जातियों तथा धर्म - वादियों की सभी बातों से मेल खा जाए, तो यह बात कोई असम्भव न होगी क्योंकि आज के संसार की प्रवृत्ति बहुत कुछ इसी दिशा की ओर है।

इस प्रकार की परिस्थिति ले आने के लिए द्राविड़ी प्राणायामों की जरूरत नहीं है, भ्रान्ति के प्रचार की रत्ती भर भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वयं हिन्दुओं के 'पोथी-वाद' में ऐसे ईश्वरीय आदेश विद्यमान हैं। ऐसी धार्मिक पद्धतियों तथा सामाजिक संस्कारों का उनमें महत्त्व-पूर्ण निर्देश है, जिनके अनुसार हिन्दू स्वयं अपने समाज में देश-कालानुसार आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं।

खेद की बात है कि 'बुद्धि-वाद' के हमारे उत्साही प्रचारक अपने घर की पूंजी की जानकारी न रखकर विदेशी आदर्शों को ग्रहण कर अपने उद्देश्य की सफलता चाहते हैं, परन्तु उनका यह भारी भ्रम है। उनकी सफलता तभी 'कल्याण - प्रद' होगी, जब वे 'सत्य का आश्रय' ग्रहण करेंगे और सत्य-ग्रहण करने का मतलब यह है कि वे इसके लिए 'वैदिक साहित्य' का आश्रय लेकर अपने उद्देश्यों का प्रचार करें। तभी उन्हें वास्तविक सफलता प्राप्त होगी। वाक्-छल से अल्प-कालिक ही सफलता मिलती है। अतएव सत्य का आग्रह सदैव करना चाहिए क्योंकि–'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'।

२१ हमारी संस्कृति

हमारी संस्कृति का आज मखौल उड़ाया जाता है। और मखौल उड़ाते हैं हमारे वे विज्ञ जन, जिनको हमने अपना भाग्य-विधाता मान लिया है। इनकी देखा-देखी हमारे नवयुवक भी बे-लगाम हो गए हैं और वे भी उन्हीं की तरह अपनी सभी बातों की हँसी उड़ाने में अपनी बुद्धि का गौरव मानते हैं। इस सबके परिणाम-स्वरूप आज सारी हिन्दू-जाति में नास्तिकता का भाव इतना व्यापक हो गया है कि उससे हमारा पवित्र स्त्री-समाज भी अछूता नहीं बचा!

सन्तोष की बात इतनी ही थी कि वह कु-भावना अभी तक केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे परिवारों तक ही सीमित थी, परन्तु जब से हमने अपने अंग्रेजी पढ़े-लिखे स्वार्थ-त्यागी देश-भक्तों को अपना नेता बनाया और उन्हें हम देवता के समान पूजने लगे, तब से नास्तिकता की कु-भावना ने अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया क्योंकि हमारे ये नेता हमारी संस्कृति के महत्त्व के कायल नहीं थे। उन्होंने अपने अंग्रेज गुरुओं की शिक्षा के अनुसार हमें यही उपदेश दिया कि हमें अपनी सब बातों को छोड़ कर पाश्चात्यों का अनुसरण करना चाहिए क्योंकि वही प्रगति-मूलक है। हमें अपनी रूढ़ियों को छोड़ देना चाहिए क्योंकि उनसे उन्नति में बाधा पड़ती है। फिर ये रूढ़ियाँ ब्राह्मण - धर्म की देन हैं और इस ब्राह्मण-धर्म ने सारी हिन्दू-जाति को भिन्न-भिन्न जातियों में बाँट कर सदा अपना उल्लू सीधा किया है!

हमारे भाग्य-विधाताओं के जब ऐसे विचार हैं, तब वे हमारी उस संस्कृति का महत्त्व कैसे आँक सकते हैं, जिसकी प्राचीनता का लेखा प्रत्येक हिन्दू प्रति-दिन अपने सङ्कल्प में नित्य किया करता है? वह कहता है कि—**'आज ब्रह्मा के दिन के दूसरे पहर के श्वेत-वाराह कल्प के अट्ठाइसवें कलियुग के जम्बू-द्वीप के भरत-खण्ड के आर्यावर्त देश के अमुक क्षेत्र में कलियुग के प्रथम चरण के अमुक नाम के सम्वत्सर के अमुक मास के अमुक पक्ष की अमुक तिथि के अमुक दिन में मैं अमुक काम करता हूँ।'**

हमारी संस्कृति का यह कितना नपा-तुला लेखा है, परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के मद से जिनकी दृष्टि मोटी पड़ गई है, वे इसके महत्त्व को कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? उन्हें तो अपौरुषेय वैदिक धर्म को ब्राह्मणों का धर्म बताने में ही मजा मिलता है ! वे आर्यों के इस नित्य के छोटे से, किन्तु अति गूढ़ लेखे के रहस्य को जान भी तो नहीं सकते । फिर हम उन्हें जनाना भी नहीं चाहते ।

हमें तो केवल अपने आस्तिक बन्धुओं ही से कहना है, जो उपर्युक्त नेताओं के नास्तिकता-वाद के फेर में पड़ कर भ्रान्ति में पड़ गए हैं । उन्हें जानना चाहिए कि उनके पूर्वजों का रक्त उनकी धमनियों में अपने शुद्ध रूप में आज भी प्रवाहित हो रहा है । तथा-कथित नेताओं के गुरुओं के कथनानुसार वे वर्ण-सङ्कर नहीं हैं । उन्हें यह भी जानना चाहिए कि उनकी वैदिक संस्कृति का मूल रूप उनके पास आज भी सुरक्षित है । उनके पूर्वजों ने अपना सब कुछ खो दिया, अपने अगणित बन्धु-बान्धवों को कत्ल हो जाने दिया, विधर्मी हो जाने दिया, परन्तु अपनी संस्कृति की हर तरह से रक्षा की । अतएव आज उनका कर्त्तव्य है कि वे अधिक सावधानी से अपनी परिस्थिति पर विचार कर आगे कदम बढ़ाएँ ।

आज जब हम स्वाधीन हुए हैं--हमारे देश में हमारा राज्य कायम हुआ है, तब हम यदि अपनी संस्कृति को महत्व नहीं देंगे, तो और कब देंगे ? इस कथन से हमारा यह मतलब नहीं है कि हम दूसरों की अच्छी बातों को ग्रहण न करें । हमारा मतलब केवल इतना है कि हम उन्हें वहीं तक ग्रहण करें, जहाँ तक हमारे अपनेपन का ह्रास न हो और वह विद्रूप भी न होने पाए ।

२२ हमारा तीर्थ-राज प्रयाग !

हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के अनुसार देश के अनेक स्थान 'तीर्थ-स्थान' माने गए हैं । इन स्थानों में धार्मिक लोग कुछ काल तक निवास कर या पर्वों पर जाकर अपना यजन-पूजन कर पर-लोक बनाने की चेष्टा किया करते थे । काल की गति से दिन-दिन इन पवित्र स्थानों के माहात्म्य का ह्रास-सा होता जा रहा है । अनेक स्थानों में गृहस्थों ने वहाँ अपने स्थायी आवास बनाकर उन्हें भोग-विलास के स्थानों का रूप दे दिया है, जो खेद की बात है ।

सबसे अधिक खेद की बात तो यह है कि इन तीर्थ-स्थानों के राजा 'तीर्थ-राज प्रयाग' का अपना रूप तो सर्वथा नष्ट हो गया है । किसी समय यहाँ तपस्वियों के आश्रम थे, जहाँ प्रति पर्व पर आकर लोग यज्ञ-यागादि किया करते थे । 'कल्प-वास' कर जहाँ उसे लोग 'तपो-भूमि' का रूप दे दिया करते थे, वही हिन्दुओं का 'तीर्थ-राज प्रयाग' नई सभ्यता का केन्द्र बनता जा रहा है । सङ्गम-तट पर इधर-उधर दूर तक दृष्टि डालने पर कोई भी ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देगा, जिससे किसी को यह भान हो सके कि यह हिन्दुओं का 'तीर्थ-राज' है । न तो कोई ऐसे भव्य मन्दिर ही दिखाई देंगे, जिससे कम-से-कम यही प्रतीत हो कि यह एक धर्म-स्थान है !

चाहिए तो यह था कि कम-से-कम सङ्गम के आस-पास दूर तक साधु-महात्माओं के कुछ ऐसे स्थान बने होते, जहाँ वे निवास कर धार्मिक साधनाएँ करते होते, जिनका सत्सङ्ग करके तीर्थ-यात्री लोग ज्ञान लाभ कर अपनी 'तीर्थ - यात्रा' को सार्थक कर सकते । इनको जाने दीजिए, ऐसे धर्माचार्यों के 'पीठ' भी वहाँ नहीं दिखाई देते, जिनके पास जाकर यात्री लोग धार्मिक उपदेश सुनकर अपने को धन्य करते !

माघ मास में यहाँ प्रति वर्ष सङ्गम-तट पर एक धार्मिक मेला अवश्य लगता है। उस अवसर पर यहाँ कुछ धार्मिक संस्थाएँ दो-तीन दिन तक अपने जलसे करती हैं। हवन आदि तथा भाषण भी हो जाते हैं, परन्तु यह सब तमाशा-सा ही हुआ करता है। हमारे धर्माचार्यों के पास ऐसी कोई योजना नहीं है कि वे अपने इस 'तीर्थ-राज' को उसका वास्तविक रूप प्रदान करने में समर्थ हों। कदाचित् उनका ध्यान भी इस ओर नहीं जाता कि उनका अपने इस महान् स्थान की ओर कुछ कर्त्तव्य है! हम देखते हैं कि गृहस्थ लोग इस मेले में आते हैं और अपने सुख से रहने की वे सभी पूर्ण व्यवस्था कर लेते हैं। मेले की व्यवस्था करने के लिए जो सरकारी अधिकारी वहाँ निवास करते हैं, उनके सुख से रहने के लिए तो और भी सुन्दर व्यवस्था रहती है, परन्तु जो साधु-सन्त आते हैं, उनमें से अधिकांश को आकाश के नीचे और नङ्गी भूमि पर ही अपना समय बिताना पड़ता है! शीत - निवारण के लिए एक-मात्र साधन चिलम-बाजी रहती है, जो भविष्य में सरकारी मादक द्रव्य-निषेधात्मक आज्ञा के फल-स्वरूप नहीं सुलभ हो सकेगी!

क्या इन साधु - सन्तों को शीतादि कष्टों से बचाने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं की जा सकती? परन्तु करे कौन? आज तो हमारा साधु - समाज अधिकांश हिन्दुओं की दृष्टि में निन्दा का भाजन मात्र हो रहा है। ऐसी अवस्था में यह कैसे आशा की जाय कि हमारा 'तीर्थ-राज' तीर्थोपयुक्त साधनों से अर्थात् साधु - आश्रमों, मन्दिर - मठों, तप-स्थलों आदि से सज्जित और सुशोभित हो सकेगा!

हमने यहाँ यह सब लिखने का दुस्साहस इसलिए किया है कि आज अपने देश में 'स्वदेशी राज्य' है और हमारे देश के सम्भ्रान्त लोग अब अपनी वस्तुओं की कदर करने लगे हैं। ऐसी दशा में यदि हिन्दू-समाज के सम्पन्न धार्मिक लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो जाय, तो सङ्गम के आस-पास की भूमि 'तीर्थ-राज' के उपयुक्त भले प्रकार सज्जित की जा सकती है। क्या सनातन-धर्माचार्य तथा उपदेशक महानुभाव 'तीर्थ-राज' की दशा के सुधारने की ओर ध्यान देने की कृपा करेंगे?

२३ हिन्दू-कोड का विरोध

यह विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त महा - शक्ति की विराट् रचना है। इसकी प्रत्येक वस्तु उसी महा-महिमा-मयी की प्रकृति-लीला है। पृथ्वी-जल-वायु आदि, सूर्य-चन्द्र - नक्षत्र आदि एवं जड़-चेतन पदार्थ आदि सारे दृश्य-मान् पदार्थ विश्व-जननी का अद्भुत खेल है और इस विचित्र खेल में मानव प्राणी उसकी सबसे अधिक विलक्षण सृष्टि है क्योंकि यही उसके रम्य नाटक का यत्किञ्चित् अनुभव प्राप्त करता है। इस मानव को सुव्यवस्थित रखने के लिए उस परा-शक्ति का अपना एक विधान भी है। वही विधान अतीत काल से उसके साथ-साथ चला आ रहा है। वही 'भारतीय संस्कृति' अथवा 'वैदिक संस्कृति' के नाम से इस समय विश्व में प्रसिद्ध है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि भारतीय संस्कृति ही दैवी आदेश या व्यवस्था के रूप में ग्रहण की जायगी, तो अन्य संस्कृतियों का क्या होगा? उत्तर स्पष्ट है। वे सब मानव-रचित हैं और नित्य नहीं हैं। वैदिक संस्कृति ही एक नित्य संस्कृति है और दूसरी संस्कृतियाँ तब तक चलती हैं, जब तक वे उसका आश्रय लिए रहती हैं। यों वैदिक संस्कृति विश्व-व्यापिनी रही है—उसी प्रकार, जैसे सूर्य का प्रकाश। उसकी व्यापकता घटाने के लिए समय-समय पर अन्य संस्कृतियाँ अन्धकार की तरह उत्पन्न होती

आई हैं। यह भी उसी लीला-मयी की एक अनोखी लीला की छटा है। इसका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है, जिसे वही जानते हैं जिस पर उसकी कृपा होती है।

हमारी 'भारतीय संस्कृति' अर्थात् 'वैदिक संस्कृति' ईश्वरीय देन है। यही कारण है कि वह अतीत काल से आज भी जैसी-की-तैसी विद्यमान है। खेद इतना ही है कि इस समय विश्व में आसुरी सम्पत्ति का प्राबल्य हो गया है। इससे इस दैवी सम्पत्ति की सर्वत्र उपेक्षा की जा रही है! उपेक्षा ही नहीं, उसका बुरे ढङ्ग से तिरस्कार तक किया जा रहा है! यह भी उस ब्रह्माण्ड-नायिका की गूढ़ कलाओं की एक कला है। जैसे कभी दिन है, तो कभी रात; कभी गर्मी है, तो कभी शीत, उसी प्रकार कभी उसकी दैवी सम्पत्ति का प्राबल्य है, तो कभी आसुरी सम्पत्ति का। अतएव विज्ञ जन उसकी इन लीलाओं को देख कर कुण्ठित नहीं होते।

हमारी 'भारतीय संस्कृति' पर आसुरी सम्पत्ति के आक्रमण-पर-आक्रमण होते रहें, इसकी कोई चिन्ता नहीं। उसका मेरु-दण्ड वज्र से भी अधिक इस कारण सुदृढ़ है क्योंकि वह एक नित्य वस्तु का आधार है। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते, वही प्रायः हाय-हाय करते दिखाई देते हैं, परन्तु जिनको विश्व-जननी की लीला का कुछ भी भान हो गया है, वे इस परिस्थिति को देख कर आनन्द का ही अनुभव करते हैं।

यह सब यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता न थी, यदि हमें काशी के 'धर्म-सङ्घ' की एक विज्ञप्ति न मिली होती। उस विज्ञप्ति में प्रत्येक हिन्दू से 'हिन्दू-कोड-बिल' का विरोध करने की माँग की गई है। उस 'हिन्दू-कोड' का, जिसे भूतपूर्व अंग्रेजी सरकार के कानून-सदस्य सर सुलतान अहमद ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में पास करवाने का प्रयत्न किया था, परन्तु उस समय हिन्दुओं का व्यापक विरोध देखकर उसे कानून का रूप देने की अंग्रेज सरकार की हिम्मत न पड़ी और जिसे अब स्वतन्त्र भारत की अपनी सरकार के कानून-सदस्य डाक्टर अम्बेदकर यह कहकर कानून का रूप देना चाहते हैं कि लोग उसे चाहते हैं।

उक्त विज्ञप्ति में लिखा है कि यदि 'हिन्दू-कोड' पास हो जायगा, जिसकी अधिक सम्भावना है, तो उससे हिन्दू-समाज का बड़ा अनिष्ट होगा। अतएव प्रत्येक हिन्दू को उसका विरोध करना चाहिए, परन्तु हम इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि हमारे ऐसे विरोधों का, जहाँ तक हम समझते हैं, सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। फिर यही एक कानून क्या, हमें तो ऐसा जान पड़ता है, इससे भी अधिक अनिष्ट-कारी और भी कानून बनेंगे।

अतएव हमें पाश्चात्य विरोध-प्रणाली का आश्रय न लेकर अपनी पुरानी शाश्वत नीति का ही आश्रय लेना चाहिए और यह नीति है ईश्वर पर पूर्ण भरोसा रखते हुए समाज में वैदिक आदर्शों का व्यापक रूप से प्रचार करना। इसके लिये त्यागी साधु-महात्माओं और धर्माचार्यों की आवश्यकता है। इन्हीं ने गत ७०० वर्षों के घोर सङ्कट-काल में हमारे समाज की रक्षा की थी और भविष्य में भी यही करेंगे। यह एक तथ्य है कि हमारा हिन्दू-समाज अतीत काल से इन्हीं परमार्थी स्वार्थ-त्यागी महापुरुषों के नियन्त्रण में रहकर अब तक सजीव और सबल बना हुआ है। अतएव हमें भय-भीत न होना चाहिए। हमारा हिन्दू-समाज दैवी आदर्शों पर सङ्गठित है, आसुरी आदर्श उसका कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते।

२४ विधि का महत्त्व

संसार में **'विधि'** का बड़ा महत्त्व है। स्वयं संसार ही इसका एक बड़ा प्रमाण है, उसकी प्रत्येक वस्तु की गति बराबर विधि-युक्त रहती है, परन्तु मनुष्य इसकी ओर ध्यान नहीं देता ! वह एक बुद्धि-जीवी प्राणी है और अपनी बुद्धि को वह सर्वोपरि मानता है। यहाँ तक कि अपनी बुद्धि के विफल होने पर भी वह इस बात का अनुभव नहीं कर पाता कि उसे विफलता क्यों हुई !

'विधि' का ज्ञान सभी को नहीं होता। वह किसी के द्वारा ही प्राप्त होती है, परन्तु बुद्धि-वादी मनुष्य **'विधि'** का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही नहीं करता। वह समझता है कि 'मेरे भी बुद्धि है और उसके द्वारा मैं अपना कार्य सफलता-पूर्वक कर लूँगा।' यह उसकी भ्रान्ति है। **'विधि'** का ज्ञान तो उसे प्राप्त करना ही पड़ेगा।

साधना में **'विधि'** का महत्त्व है, परन्तु बुद्धि-वादियों की बदौलत आज की साधनाएँ भी लुञ्ज-पुञ्ज हो रही हैं। परम्परागत विधियों का त्याग कर आज के साधक भी नई विधियाँ निर्दिष्ट कर अपनी साधनाओं में संलग्न दिखाई देते हैं। देश में साधकों के झुण्ड घूम रहे हैं ! जहाँ देखो, वहीं बड़े-बड़े यागादि होते रहते हैं; बड़े-बड़े तीर्थों में बड़े-बड़े धर्म-महोत्सव भी आए दिन अपने गौरव का पता देते रहते हैं, परन्तु परिणाम क्या है ?

हिन्दू-जाति आज कितनी दैन्यावस्था को प्राप्त है ! उसकी धर्म-भावना आज के पतन के गर्त में से उसका उद्धार करने में सक्षम नहीं है। ऐसा क्यों ? इसका एक-मात्र यही उत्तर है कि हमने **'विधि'** का महत्त्व नहीं समझा। यदि शास्त्र की **'विधि'** ग्रहण किए रहते, तो हमारी जाति की आज यह दुर्दशा न होती। हिन्दू-जाति सदा धार्मिक जाति रही है। आज उसकी धार्मिक विधियाँ अस्त-व्यस्त हैं। आवश्यकता इस बात की है कि 'विधि' का महत्त्व समझा जाए और सभी धार्मिक कर्म सविधि ही किए जायँ, तभी अभीष्ट की सिद्धि मिल सकेगी।

२५ अधिकारी-भेद का महत्त्व

युग-युगान्त के बाद आज भी वैदिक सिद्धान्तों का अपना महत्त्व ज्यों का-त्यों अक्षुण्ण बना हुआ है। निस्सन्देह यह विज्ञान का युग है और विज्ञान की तीव्र तेजस्विता सारे संसार के निवासियों को विमुग्ध और चकित—साथ ही भय-भीत करती रहती है। यह होते हुए भी ऐसे अवसर आते ही रहते हैं, जब विज्ञानोपासकों तक को हार मानकर अन्त में वैदिक सिद्धान्तों में से किसी-न-किसी एक की शरण लेकर अपने हृदय को शान्त करना पड़ता है।

अपने देश में भी इस समय विज्ञान की महत्ता सर्वोपरि स्वीकृत है, तथापि वैदिक सिद्धान्त-वाद का देश होने के कारण यहाँ विज्ञ जन समय-समय पर उसके सिद्धान्तों का महत्त्व स्वीकार करते ही रहते हैं। यही नहीं, उनमें से कितने ही उनका प्रचार करने को कभी-कभी आगे बढ़ भी आते हैं, परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि वैदिक सिद्धान्तों के हमारे ये विज्ञ प्रचारक वास्तविक बात को अपने प्रचार के उत्साह में भूल जाते हैं। वे यह नहीं देखते कि वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार तभी फल-प्रद होगा, जब वह अधिकारी-भेद के अनुसार किया जायगा। वे तो आधुनिक पद्धति के अनुसार एक ही डण्डे से सबको हाँकना चाहते हैं, वे वैदिक सिद्धान्तों का अनुसरण करना सब किसी के लिए समान रूप से विधेय मानते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है।

वैदिक सिद्धान्तों में 'त्याग' का बड़ा महत्त्व है, परन्तु वह सारे देश-वासियों के लिए कहाँ तक उपादेय हो सकता है, यह एक विचारणीय विषय है। सारे देश-निवासी वैदिक काल में भी तो त्यागी नहीं थे, यद्यपि वे 'त्याग' का महत्त्व भले प्रकार जानते थे! तब आज सब किसी के लिए उसका व्यापक प्रचार कैसे हो सकता है? सभी तो त्यागी नहीं हो सकते। यदि हम उन्हें बल-पूर्वक वैसा बनाने का प्रयत्न भी करें, तो भी हम अपने प्रयत्न में सफल नहीं होंगे।

हम प्रायः देखते रहते हैं कि वैदिक सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए हमारे नेता लोग सभी को उपदेश करते रहते हैं। त्याग-अहिंसा-सत्य के सिद्धान्तों के व्यापक प्रचार के साथ-साथ 'गीता' के मनन और अनुशीलन आदि का आए दिन उपदेश होता रहता है, परन्तु यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि इस प्रकार के उपदेश **'मरु-भूमि में बीज-वपन'** के समान ही व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

वास्तविक बात यह है कि हमारे ये उत्साही उपदेशक 'एक-राष्ट्र-वादी' हैं। वे 'अधिकार-भेद' की बात नहीं जानते और यदि जानते भी हैं, तो वे उसकी उपेक्षा करने में ही अपना और अपने देश का हित समझते हैं। भले ही उनका यह प्रयत्न वैदिक विधि के विपरीत क्यों न हो, जो उस 'अधिकारी-भेद' को सामने रख कर ही अपने सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करती है।

२६ आर्यों की परम्परा

देश में आज **'हिन्दू-कल्चर'** की बात हो रही है, परन्तु कोई यह नहीं बताता कि उसकी रूप-रेखा क्या है? इधर एक मत यह है कि सारे देश का एक 'कल्चर' हो। हमारी 'सेकुलर' सरकार भी कदाचित् यही मानती है कि भारत में एक राष्ट्र की भावना व्यापक रूप से अस्तित्व में आ जाय। पहले भी इस भाव को महत्त्व दिया गया था। बौद्धों ने इस सम्बन्ध में एक समय व्यापक प्रयत्न किया था, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। क्यों नहीं मिली—इस सम्बन्ध में मत-भेद है।

किसी का यह भी मत है कि यह **'वैदिक कल्चर'** का देश है और उस 'कल्चर' में एक का अनेक रूपों में अनुभव करना मूल सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि प्रारम्भ से ही इस पवित्र भारत-खण्ड में अनेकता के भीतर एकता का अनुभव होता रहा है अर्थात् सभी प्रकार की विचार-धाराओं का, भिन्न-भिन्न प्रकार के रहन-सहनों का, विभिन्न खान-पान आदि का इस देश में स्वतन्त्रता-पूर्वक विकास होता रहा है। किसी भी विचार-धारा के विकास में किसी भी प्रकार की बाधा तब तक नहीं डाली गई, जब तक वह स्वयं किसी के मार्ग में बाधक न हुई हो।

'स्वयं रहना तथा दूसरे को भी रहने देना—दूसरे को ही नहीं, अनेकों को रहने देना'— यही **'वैदिक कल्चर'** का व्यापक सिद्धान्त था और आज भी है। इसी सिद्धान्त के प्रति-पत्ति-स्वरूप आज की हिन्दू-जाति अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हो सकी है, परन्तु इस महान् जाति के आज के मनीषी या तो उस सिद्धान्त को जानते नहीं हैं और यदि जानते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि वे उसकी उपेक्षा करने ही में अपने देश का हित समझ रहे हैं। दोनों स्थितियों में यह बात विशेष रूप से चिन्त्य है।

चिन्त्य इसलिए है कि हमारे ये आज के मनीषी देश में एक नए 'महा-राष्ट्र' की रचना करने में संलग्न हैं और यह उनका प्रयत्न अपनी देशी प्रेरणा का फल नहीं है, किन्तु वैदेशिक राष्ट्रीयता की भावना के प्रभाव का दूषित परिणाम है—दुष्ट नकल-बाजी है।

दुःख की बात है कि हमारे उपर्युक्त मनीषियों का यह प्रयत्न अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी यहाँ के देश-काल के सर्वथा विपरीत है। **'एक राष्ट्र'** की भावना के प्रचार का प्रयत्न जिस प्रकार बौद्धों

का विफल हुआ, उसी प्रकार मुसलमानों का भी विफल हो चुका है क्योंकि **देश** का **'वैदिक कल्चर'** ऐसी कट्टर विचार-धारा के ग्रहण करने में अपने को तदनुकूल बनाने को यत्नवान् होता हुआ नहीं दिखाई दिया, वरन् जान-बूझ कर ऐसे प्रयत्नों से वह बराबर असहयोग ही करता रहा है। यहाँ तक कि उसे अवसर आने पर 'सत्याग्रह' तक करना पड़ा है। और जब कि हमारा वह 'वैदिक कल्चर' आज भी हममें पूर्व-वत् ही विद्यमान है, सजीव रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए है, तब **'एक राष्ट्र'** की रचना करने के आज के मनीषियों के सारे प्रयत्न पूर्व-वत् ही विफल होंगे, यह ध्रुव सत्य है, परन्तु इस सत्य को कोई मानने को तैयार नहीं !

अब रह गई यह बात कि प्रयत्न करनेवाले अपने प्रयत्न से विरत नहीं हो सकते और न उनका विरोध करनेवाले अपना विरोध करने से। इन दोनों के घोर सङ्घर्ष में एक यही बात होगी कि देश में आवश्यक शान्ति और सुख की स्थापना, जो **'वैदिक कल्चर'** की इस देश में पवित्र धरोहर सदैव रही है, शीघ्र नहीं हो सकेगी, और हो भी कैसी सकेगी, जब सारा विश्व आज आसुर भाव से आवृत्त हो रहा है ! ऐसी दशा में **'वैदिक कल्चर'** के विश्वासी इस पवित्र देश के लोग अपने-अपने घरों में बैठ कर राम-राम करने के सिवा और कर ही क्या सकते हैं ! उनकी परम्परा भी तो ऐसी ही है।

हाँ, आर्यों के 'कल्चर' की ऐसी ही साधु परम्परा है, परन्तु आज के मनीषी इसे कापुरुषता कह कर उसका उपहास कर सकते हैं। वे ऐसा करने को स्वतन्त्र हैं। 'आर्य-कल्चर' उनकी इस प्रकार की आलोचना बड़े धैर्य के साथ सुनने को समर्थ है। धैर्य-पूर्वक अपने निश्चित सिद्धान्तों पर दृढ़ रह कर, विपक्षियों के आक्रमण सहकर, जो 'कल्चर' सृष्टि के प्रारम्भ काल से अब तक जीवित रह सकता है, वह किसी के भी ऐसे आक्षेपों से विचलित नहीं होने का। वह जानता है कि संसार परिवर्तन-शील है। जो बात आज है, वह कल नहीं रहेगी, परन्तु एक बात है—सत्य में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वह ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। यही आर्यों के 'कल्चर' की, सृष्टि के आरम्भ काल से, आधार-शिला रही है।

संसार का इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसमें कितने भारी-भारी परिवर्तन हो गए हैं। प्राचीन मिश्र, चाल्डिया, असीरिया, बैबेलेनिया, फिनीशिया के नाम मात्र आज शेष हैं। उनके ध्वंसा-विशेष ही उनका गौरव-गान करने को अब रह गए हैं ! इनको जाने दीजिए, अपने देश को ही देखिए—किसी समय राजस्थान और संयुक्त-प्रान्त आदि समुद्र की विशाल जल-राशि के गर्भ में थे और आर्यों की उस पवित्र-तम सरस्वती नदी में, जो आज थानेश्वर के पास एक बरसाती नाले की स्थिति को प्राप्त है, बड़े-बड़े जहाज चला करते थे, परन्तु आज न वह जल-राशि है, न सरस्वती नदी का वह विशाल जल-प्रवाह !

संसार की ऐसी ही परिवर्तन-शीलता है, परन्तु इस परिवर्तन-शीलता में आर्यों के उस प्राचीन-तम 'कल्चर' के प्राण पहले की तरह आज भी बराबर स्पन्दित होते रहते हैं। उनमें सङ्कोच और विकोच भले ही होता रहता हो परन्तु उनकी शक्ति ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण बनी हुई है। करोड़ों वर्ष पहले सरस्वती के तट पर हमारे पूर्वजों ने जिस विमोहक स्वर में पहले-पहल परमात्मा से अपनी बुद्धि के विकास के लिए प्रार्थना की थी, वही महत्त्व-पूर्ण फल-प्रद प्रार्थना आज भी तो सारे भारत-वर्ष के कोने-कोने में ज्यों-की-त्यों धीर-गम्भीर स्वर में बराबर होती रहती है।

ऐसी है हमारे आर्यों के 'कल्चर' की जीवनी-शक्ति ! यही कारण है कि उस 'कल्चर' के अनुगामी आज के हिन्दू पहले ही की तरह अविचल भाव से शान्ति और सुख से अपने जीवन का भार वहन करते रहते हैं। उनके आस-पास तरह-तरह की विचार-धाराएँ उन्हें थपेड़े मार-मार कर धराशायी करने का प्रयत्न निरंतर करती रहती हैं, परन्तु वे इतने पर भी अपने स्थान पर बराबर अचल खड़े ही रहते हैं। ऐसा क्यों है, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर वही दे सकता है, जो आर्यों के 'कल्चर' की परम्परा का सम्यक् ज्ञान रखता है--आज के भ्रान्त, सन्देह-शील और उद्दण्ड राजनीतिज्ञ उसका समुचित उत्तर कदापि नहीं दे सकते।

२७ हिन्दू-संस्कृति-वाद

आजकल हिन्दू-संस्कृति की बड़ी चर्चा है, परन्तु चर्चा ही भर है। कोई यह नहीं बताता कि उस संस्कृति का रूप क्या है ? क्या आज के हिन्दू उस संस्कृति के बाहर हैं ? तब चर्चा कैसी ? जब हिन्दू अपनी परम्परागत संस्कृति के अनुसार ज्यों-के-त्यों अपने स्थान में स्थित हैं, तब उसके पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार की बात उठाना एक बे-मतलब की ही बात न होगी !

हिन्दू-संस्कृति जैसी आज है, वैसी ही भूत-काल में रही है और वैसी ही, आशा है, भविष्य-काल में भी रहेगी। देश-काल के अनुसार उसमें यथेष्ट परिवर्तन भी हो सकते हैं और परिवर्द्धन भी, परन्तु उसका मूलाधार अबाध रूप से ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।

हम यहाँ उसकी एक बात लेते हैं। हिन्दू के जन्म के नौ महीने से पहले से लेकर उसके जीवनान्त तक, यही नहीं, उसकी तीन पीढ़ी बाद तक भी उस प्राणी के सम्बन्ध में जो कुछ संस्कार किए जाते हैं तथा वह स्वयं भी अपने प्रौढ़ काल में जो-जो अनुष्ठान करता रहता है, वही सब हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार है। और वह जैसा अतीत काल में था, वैसा अद्यावधि भी विद्यमान है।

हिन्दू-जाति के अगणित वर्षों के जीवन-काल में उसे नाना प्रकार की बहु-काल-व्यापी नाना क्रान्तियों का सङ्घर्ष झेलना पड़ा है। कई बार वह धरा-शायी भी हो गई है, कई बार उसे विजय भी मिली है, परन्तु इन पराभवों और विजयों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जो बात हम उसके सम्बन्ध में उसके अतीत काल के इतिहास में लिखा पाते हैं, वही आज भी उसके जीवन में बराबर ज्यों-का-त्यों देखते हैं। उसका उपर्युक्त मूलाधार अभग्न वज्र-वत् आज भी यथा-वत् उसके अतीत काल के इतिहास को उसके आज के इतिहास से सम्बद्ध किए हुए दिखाई दे रहा है।

हिन्दू-जाति ने असंख्य राज्य-क्रान्तियाँ ही नहीं देखी हैं, विचार-क्रान्तियों का भी उसे सामना करना पड़ा है और सो भी दो - एक वर्ष के लिए नहीं, सात - सात सौ वर्ष तक लगातार वह आक्रान्त रही है, परन्तु वह इन सब भयानक सङ्घर्षों से भी जीती-जागती निकल कर पहले ही की भाँति आज भी अपने स्थान पर पूर्व-वत् स्थित है। उसके इस अमर रूप का मूल कारण उसका प्राचीन-तम काल के ऋषियों द्वारा उपदिष्ट राज-मार्ग का ग्रहण करना ही रहा है। और यह 'राज - मार्ग' और कुछ नहीं, एकमात्र वैदिक अनुशासन का अनुधावन ही रहा है। यही हिन्दू - संस्कृति है और यह ईश्वरादेश के रूप में उसके जन्म - काल के समय से उससे संलग्न चलती आई है और कभी उसका बाल बाँका न होगा।

बात यह है कि हिन्दू-संस्कृति न तो 'जर्मन कल्चर' है और न 'योरपीय सभ्यता' है कि वह देश-कालानुसार बनती-बिगड़ती रहे। वह तो इस महान् प्राचीन-तम जाति के जीवन का एक अङ्ग है, जो उसके साथ ही नष्ट होनेवाली चीज है।

हिन्दू-संस्कृति हिन्दू का एक अङ्ग है! यदि हिन्दू है, तो उसकी हिन्दू-संस्कृति भी उसके साथ है। यदि हिन्दू नहीं है, तो उसकी संस्कृति भी नहीं। और जब हिन्दू-जाति आज भी युग-युगान्त से जीवित विद्यमान है, तब उसकी संस्कृति के तिरोभाव होने की बातें करना या यह कहना कि आज के हिन्दुओं में उनकी संस्कृति का अभाव हो गया है, सर्वथा निराधार है।

जो लोग अपनी चीज को भूल गए हैं, अपने को भूल गए हैं, वे ही ऐसा कह सकते हैं, परन्तु हिन्दू अपने को भूला नहीं है। वह अपने को जानता है, अपने कर्त्तव्यों को जानता है; साथ ही अपने देश को भी जानता है।

प्राचीन-तम काल के पूर्वजों ने हिन्दू-जाति में जिन अमर प्राणों का सञ्चार किया था, वे प्राण उसमें आज भी उसी तरह स्पन्दित होते रहते हैं। यह अवश्य है कि उसके रूप में भिन्नताएँ दिखाई देती हैं और साधारण नहीं व्यापक विभिन्नताएँ दृष्टिगत होती हैं। इन्हीं विभिन्नताओं को देखकर हमारे बहुतेरे मनीषी भ्रान्त तथा हत-बुद्धि होकर उनको हटाना चाहते हैं, उसमें एक-रूपता लाना चाहते हैं। क्यों? वे अन्य लोगों की एक-रूपता से विमोहित हैं। उनको इस बात का ज्ञान ही नहीं है कि जगन्नियन्ता ने यहाँ वेद-वाणी के द्वारा यह घोषणा की है कि **'एकोऽहं बहु स्यामः।'** यदि वे इस वैदिक तथ्य को हृदयङ्गम करने में सक्षम होते, तो वे भी एक सच्चे हिन्दू की भाँति धैर्य और सन्तोष को ग्रहण कर भ्रान्तियों से दूर रह सुख से अपना जीवन-यापन करते होते। साथ ही अपने समाज का सुधार करते होते, न कि संहार!

हमारे जिन प्राचीन महर्षियों ने हिन्दू-संस्कृति की नींव डाली थी, उन्होंने ही उसके लिए 'युग-धर्म' का भी निर्देश किया था। तदनुसार उसमें भेद होते आए हैं और होते रहेंगे। इस तथ्य को हिन्दू भले प्रकार जानता है। यही कारण है कि हिन्दू प्रायः दूसरों को देखकर व्यामोह में नहीं पड़ता। वह अपनी संस्कृति के गूढ़-तम रहस्य को सदैव हृदयङ्गम किए रहता है। यही कारण है कि इस नाशमान विश्व में वह आज भी अमर बना हुआ है और वह वर्तमान समय के 'संस्कृति-वाद' के झमेले से दूर रहने में ही अपना कल्याण समझता है।

वास्तव में संसार में हिन्दू एक विचित्र धैर्य-शील प्राणी है। उसकी संस्कृति का सबसे बड़ा सद्-गुण 'धैर्य' ही है और उसके इस सद्-गुण की विशेषता है उसका परम 'विश्वास'। तभी तो अपनी संस्कृति के उपर्युक्त मूलाधार के ऊपर उसने जीवन का ताना-बाना बुन रखा है, और युग-युगान्त से उसी में अपने को फँसाए रखकर अपने नाशमान जीवन का अब तक विकास करता आया है। वह उसी आधार-शिला पर सुदृढ़ रूप से स्थित होकर धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के सिद्धयर्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति की सुदृढ़ भावनाओं द्वारा आधि-भौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक साधनाओं की सिद्धि में सतत प्रयत्न-शील रहता है।

हिन्दू के जीवन-क्रम की यह साधना-प्रणाली वह परम पुरुषार्थ है, जिससे आज भी हिन्दू अपना अविचल अस्तित्व इस विशाल ब्रह्माण्ड में अद्यावधि स्थिर किए हुए हैं। उसकी यह सारी विशेषता एक-मात्र उसकी उपर्युक्त संस्कृति के मूलाधार का ही दिव्य स्वरूप है।

अन्त में हम यहाँ यह निवेदन करना चाहते हैं कि यदि हमारे संस्कृत्यभिमानी नेता महानुभाव अपने विचारों का बिना स्पष्टीकरण करते हुए 'संस्कृति-वाद' का झण्डा लेकर सामने आते हैं, तो उनका यह प्रयास ऊसर में बीज-वपन के समान ही होगा। इस सम्बन्ध का उनका सारा प्रयत्न सुफल नहीं प्रकट करेगा, वरन् वह कलह और अव्यवस्था का ही मूल कारण होगा।

देश में कलह और अव्यवस्था की आज भी सीमा नहीं दिखाई देती। तब हम 'संस्कृति-वाद' का विवाद खड़ा करके उस अग्नि में घृत की और अधिक आहुतियाँ देने का ही तो काम करेंगे। भले ही उनका उद्देश्य कितना ही पवित्र तथा हिन्दू-हित-साधक ही क्यों न हो। आशा है कि हमारे ये 'वाद' के विवादी लोग संस्कृति का रूप निर्दिष्ट करते हुए ही अपने पवित्र उद्देश्य की सिद्धि का प्रयास करने में तत्पर होंगे। तभी वे अपने उद्देश्य में सफल-मनोरथ हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

२८ हिन्दू और हिन्दू-धर्म

वर्तमान समय में हिन्दू और हिन्दू-धर्म – दोनों ही दिन-दिन दयनीय दुरवस्था को प्राप्त होते जा रहे हैं। देश में 'हिन्दू'-नाम-धारी प्राणी का कोई महत्त्व नहीं है। यही हाल उसके पवित्र धर्म का भी है। उसके धर्म की नई-नई परिभाषाएँ की जा रही हैं। जितने मुख, उतनी ही उसकी परिभाषाएँ सुनने में आती हैं! उसके आधार-स्तम्भ–वेद-विद्या, धर्म-शास्त्र, पुराणादि को इन व्याख्याओं में अब कोई स्थान ही नहीं रहा! कोई उसको सदाचार-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों पर आधारित करके उसकी परिभाषा निर्दिष्ट करता है, तो कोई कुछ अन्य सिद्धान्तों को लेकर उसकी महत्ता की स्थापना करता है! यही नहीं, यहाँ तक कहा जाने लगा है कि––

"जिसे बौद्ध 'पञ्च-शील' कहते हैं, उसी को जैन मत में 'पञ्च महा-व्रत' कहा गया है। सनातनी उसी को 'यम-नियम' कहते हैं। उन सबके धर्म का आधार या सिद्धान्त प्रायः एक-सा है।"

आश्चर्य तो यह है कि ये स्वयम्भू नेता यह क्यों नहीं कहते कि जिस 'निराकार' की उपासना हिन्दू करता है, उसी 'निराकार' की इबादत एक मुसलमान भी करता है। यही क्यों, हिन्दू तो त्रिकाल ही उसकी उपासना करता है, मुसलमान को पाँच बार करता है। तब हिन्दू और मुसलमान में भी कोई भेद न होना चाहिए! कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की नई परिभाषाएँ करनेवालों की दृष्टि में हिन्दू-धर्म का कोई निश्चित आधार नहीं है। वे उसे भी हिन्दू मानते हैं, जो हिन्दू-धर्म को गालियाँ देता है, जो हिन्दू-धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में चला जाता है तथा उसे भी, जो पुराने ढङ्ग से पुरानी रूढ़ियों का पालन करता है! इन महानुभावों की दृष्टि में ये सभी हिन्दू हैं। ये हिन्दू-धर्म की कोई सीमा ही नहीं निर्दिष्ट करते! इनकी दृष्टि में शिखा-सूत्रधारी वर्णाश्रमी भी हिन्दू है और शिखा-सूत्र-त्याग कर वर्णाश्रम न माननेवाला भी हिन्दू है! ऐसे ही वाद और वितण्डा-वाद के फेर में पड़कर हिन्दू-जाति और हिन्दू-धर्म दोनों ही चौपट हुए जा रहे हैं। इनका न कोई अपना नेता है, न कोई इनका सङ्गठन ही है, जो इनको सुव्यवस्थित रखकर इन्हें इनका वास्तविक धर्म बताता रहे और इन्हें इधर-उधर भटकने न दे। हिन्दू-धर्म की व्याख्या एक विद्वान् ने इस प्रकार दी है––

"हिन्दू निर्गुण-निराकार ब्रह्म, सगुण-सृष्टि-कर्ता ईश्वर, सगुण-साकार ईश्वर की ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम की शक्तियों तथा उनके अवतारों, तेंतीस कोटि देवताओं स्वर्ग, नरक आदि नाना लोकों,

श्राद्ध-तर्पण, कर्म-सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष, फलित ज्योतिष, वैज्ञानिक विद्याओं, पतिव्रत-धर्म, तीर्थ, व्रत और मूर्ति-पूजा, जाति-गुण-कर्मानुसार समाज-श्रेणियों, षोडश संस्कारों को मानता है। वह गो-रक्षा करना परम धर्म समझता है। स्पर्शास्पर्श, भक्ष्याभक्ष्य, ऊँच-नीच, रक्त-शुद्धता आदि भी उसके धर्म के अङ्ग हैं।'

इस व्याख्या के अनुसार वर्तमान हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म को जब तौलते हैं, तब हमें पता चलता है कि हिन्दू और उनका धर्म कहाँ चला जा रहा है। जिन हिन्दुओं को अपनी 'जाति' और अपने 'धर्म' से प्रेम हो, उन्हें उपर्युक्त परिभाषा को ध्यान से पढ़ना चाहिए। ध्यान से पढ़ना ही नहीं चाहिए, उन्हें बद्ध-परिकर होकर अपनी 'जाति' और अपने 'धर्म' की रक्षा के लिए कुछ करने को अग्रसर भी होना चाहिए। अन्यथा भविष्य में उनका और उनके धर्म का अस्तित्व नहीं रहेगा। ये जो आज कुछ स्वयम्भू नेता ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बात कहकर हिन्दुओं और उनके धर्म का नेतृत्व करने का दम्भ करते हुए दिखाई दे रहे हैं, वे उसे रसातल तक पहुँचाकर ही मानेंगे !

अतएव उक्त पाखण्डियों का भण्डाफोड़ करने के लिए ही नहीं, किन्तु अपनी 'जाति' और अपने 'धर्म' की रक्षा करने के लिए, उसे समुन्नत, समृद्ध तथा शक्ति-शाली बनाने के लिए हिन्दू-जाति को सच्चे, कर्मठ, सुबुद्ध नव-युवकों की आवश्यकता है, जो उसका परिष्करण करने के लिए नहीं, वरन उसके वास्तविक आधारों पर उसे आधारित करने के लिए अपने धर्म के नाम पर आगे आएँ। उनके लिए, अधिक सावधानी तथा तत्परता के साथ अपने इस एक - मात्र कर्त्तव्य को दृढ़ता से सम्मुख रखकर सक्रिय होना परम आवश्यक है। इस समय हिन्दू - जाति के नव-युवक धर्म-प्रेमियों का एक-मात्र यही कर्त्तव्य है।

२९ यह कैसा अधः-पतन ?

हिन्दू-जाति साधकों की जाति रही है। वैदिक आचार और विचार की समीक्षा करने से इस तथ्य का समर्थन हो जाता है। आज वैदिक साधना का देश में सर्वथा अभाव हो गया है, तथापि उसका साहित्य विद्यमान् है। उसका अध्ययन करने से इस बात का पूरा ज्ञान हो जाता है कि हमारे पूर्व-पुरुषों ने मानव जीवन का ध्येय कितने उच्च आदर्श पर स्थिर किया था तथा उसकी उपलब्धि के लिए उन्होंने कैसे सुन्दर विधान निर्धारित किए थे, परन्तु वह सब अब पोथी की बातें मात्र रह गई हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही भारतीय हिन्दुओं के जीवन का ध्येय था। इसी की सिद्धि के लिए चार 'वर्ण' और चार 'आश्रम' स्थापित किए गए थे और प्रत्येक के लिए नियम तथा कर्त्तव्य भी निश्चित थे। उन सबको जब आज हम अपने सद्-ग्रन्थों में पढ़ते हैं, तब हम देखते हैं कि उनके विधायकों की कितनी वैज्ञानिक बुद्धि थी तथा वे ज्ञान को चरम सीमा तक कितना अधिक पहुँच चुके थे ! ऐसी ही उच्च कोटि की वैदिक साधना का, आज उन्हीं के वंशजों के द्वारा, उपहास किया जाता देखकर किसे दुःख न होगा ?

यहाँ यह भी एक बड़े मजे की बात यह है कि हमारे उन पूर्व-पुरुषों को इस बात का पूरा पता था कि एक दिन ऐसा आएगा, जब इस परम पुनीत भारतवर्ष में उनके 'वैदिक धर्म' को कहीं पूछ नहीं होगी और उसके स्थान में नए-नए धर्म चलकर 'वैदिक धर्म' का तथा उनका भी पूर्णतया तिरस्कार

होगा । यही समझकर उन्होंने लोक-हितेच्छा की भावना से देश-कालानुसार एक नए धर्म का संस्करण किया था, जो लोक का कल्याण 'वैदिक धर्म' की ही तरह कर सके । यह धर्म आज देश में **'तन्त्र-धर्म'** के नाम से प्रसिद्ध है ।

'तन्त्र-धर्म' की साधना-प्रणाली 'वैदिक धर्म' जैसी न तो कठोर है, न उतनी व्यापक ही है । इसका अनुयायी बहुत ही सुगम रीति से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की उपलब्धि कर सकता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इसमें विधि-विधान का अभाव हो । विधि है और विधान भी है, परन्तु दुस्साध्य नहीं है, देश-काल के सर्वथा अनुरूप है । और यह धर्म हिन्दू-समाज के आचार-विचार में व्याप्त भी दिखाई दे रहा है । या यही बात इस तरह कहें कि आज का हिन्दू-धर्म **'तन्त्र-मूलक'** धर्म है, परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसका विधि-विधान ज्यों-का-त्यों नहीं रहा । ऐसा क्यों हुआ, यह स्पष्ट है ।

नाना प्रकार के धर्माचार्यों ने शास्त्र - निर्दिष्ट विधि - विधानों में स्वेच्छानुसार हेर-फेर करके **'तन्त्र-धर्म'** में भी बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया, जिसका भीषण परिणाम यह हुआ कि आज उसकी भी साधना निष्फल-सी दिखाई दे रही है । जैसे अन्य सम्प्रदाय या मत-मतान्तरों के साधक साधना करते हुए भी अपनी-अपनी साधनाओं में कोई सफलता प्राप्त करते नहीं दिखाई देते, वही हाल तान्त्रिक साधकों का भी ह ।

बात यह है कि मनुष्य ने ईश्वरादेशों पर हरताल फेरकर उन्हें मनुष्यादेश के रूप में परिवर्तित कर लिया है । ऐसी दशा में जो वस्तु किसी समय अमोघ और अव्यर्थ थी, वही यदि मनुष्य की कृति के रूप में कभी सफल और कभी असफल होती दिखाई दे, तो इसमें आश्चर्य क्या ? मनुष्य का 'अहं' जब सांसारिक कार्यों में प्रायः विफल ही होता दिखाई देता है, तब अध्यात्म के क्षेत्र में वह सर्वथा निष्फल ही सिद्ध होगा । कहने का मतलब यह है कि मनुष्य को मनुष्य ही रहना चाहिए और ईश्वरीय आदेश को उनके वास्तव रूप में ही उसे ग्रहण करना चाहिए । तभी वह ऊँचा उठ सकेगा । अन्यथा 'अहं' का फल उसे भोगना ही पड़ेगा ।

वही स्थिति आज हमारी है । 'अहं' ने हमें गिरा दिया है । आज इस साधकों के देश में सभी 'अहं'-भाव के शिकार हो रहे हैं । कोई भी 'ब्रह्म-पद' के नीचे अपने को नहीं समझता ! क्या मूर्ख, क्या विद्वान्—सभी अपने को साक्षात् 'ब्रह्म-स्वरूप' समझ रहे हैं, यद्यपि वे अपनी दृष्टि के भीतर की वस्तुओं का सम्यक् ज्ञान भी नहीं रखते- अन्तर के रहस्यों का जानना तो दूर की बात है !

इस दुरवस्था का मूल कारण यही है कि आज हम सचमुच 'साधक' नहीं रहे । हममें 'साधना' के रहस्य का ज्ञान नहीं रहा, केवल भ्रान्त विचारों के अनुयायी मात्र हो रहे हैं ! और समझते हैं कि हम ज्ञान-मार्ग के पथिक हैं ! न हममें आस्तिक बुद्धि रह गई है और न अपने सच्छास्त्रों पर श्रद्धा ही है । यत्किञ्चित् पुस्तकीय ज्ञान के बल-बूते पर हम 'ब्रह्म-वादी' बनकर अपने को और संसार को ठगते रहते हैं !

साधना-प्रधान पुण्य-मय देश के निवासियों का यह कैसा अधःपतन हो रहा है !

तान्त्रिक साधकों का जिन्होंने सत्सङ्ग किया, है वे जानते हैं कि उनमें दम्भ के सिवा और कुछ नहीं है । न तपस्या है, न तन्त्र-ग्रन्थों का सम्यक् ज्ञान ही है ! बस, आडम्बर मात्र ही उनके पास होता है । वे समझते हैं कि तान्त्रिक दीक्षा मात्र लेने से सिद्धि उनके पैरों पर आकर लोटने लगती है ! जो

तान्त्रिक नहीं हैं, वे भी इनकी बातें सुनकर यही समझते हैं कि तान्त्रिक दीक्षा ली नहीं कि बात-की-बात में सिद्ध हुए ! परन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। तान्त्रिक साधना करने में सारा जीवन भी व्यतीत हो जाता है और सिद्धि नहीं मिलती।

'सिद्धि' साधारण वस्तु नहीं है। वह एक महान् दुर्लभ पदार्थ है। उसकी प्राप्ति के लिए 'पशु-बलि' तो करनी ही पड़ती है, 'आत्म-बलि' भी करनी पड़ती है परन्तु यह जानते हुए भी आज के तान्त्रिक साधक इसकी सोलहो आने उपेक्षा करते हैं। इस देश में चण्डी-भक्तों की कमी नहीं है। उसका पाठ इस देश के प्रायः सभी घरों में होता रहता है, परन्तु उसकी ओर कितने लोग ध्यान देते हैं ? उसके तेरहवें अध्याय में 'सुरथ' और 'समाधि' की तपस्या का बर्णन है। सुरथ और समाधि ने नदी के तट पर मिट्टी की चण्डी की मूर्तियाँ बनाकर तीन वर्ष तक उनकी आराधना की थी। चण्डी में लिखा है—

मिट्टी की प्रतिमा देवी की, रचकर तट पर अति सुन्दर,
पुष्प, धूप औ होम आदि से, पूजा की निज मन देकर।
निराहार रह मिताहार रह, चित्त लगाकर भले प्रकार,
रक्त देह का दिया उन्होंने, देवी को बलि का उपहार।
तीन वर्ष संयत-मन रहकर, की पूजा जब भले प्रकार,
हो परितुष्ट प्रकट हो बोली, शीघ्र चण्डिका परम उदार।

—दुर्गा-सप्तशती (शब्दशः पद्यानुवाद) अ० १३/८, ६, १०

ये श्लोक 'चण्डो' के सभी पाठ करनेवाले जानते हैं, परन्तु इनके महत्त्व की ओर कौन ध्यान देता है ? यहाँ तो दस ही दिन नियम-पूर्वक 'इष्ट-मन्त्र' का जप करने पर साधक की नसें ढीली पड़ जाती हैं, परन्तु आशा करते हैं कि शीघ्र ही देवता प्रकट होकर उन्हें उसी प्रकार वर दे जाय, जैसे सुरथ और समाधि को चण्डिका ने प्रकट होकर दिया था ! न महीना, न चार महीना—दस ही पन्द्रह दिन में जब लोग सिद्ध हो जाना चाहते हैं, तब उन्हें यदि अपने प्रयत्न में सफलता न मिले, तो इसमें आश्चर्य क्या है ? और यदि वे तान्त्रिक साधना की निन्दा करते दिखाई दें, तो इसमें भी क्या ग्राश्चर्य ?

बात यह है कि **'तान्त्रिक-साधना'** कोई अनर्गल साधना नहीं है। शास्त्र में उसकी साधना के ठोक-ठीक नियम बताए गए हैं। किस तरह दीक्षा लेकर, किस स्थान में, किस समय पर, किस तरह जीवन-यापन करते हुए, कितने दिन तक साधना करनी चाहिए—इसकी स्पष्ट शब्दों में विधि बताई गई है। यदि पहले प्रयत्न में सिद्धि न मिले, तो उसे पूर्व-वत् बार-बार प्रयत्न करना चाहिए। कम-से-कम चार बार तो अवश्य ही करना चाहिए। यदि इतने पर भी सफलता न मिले, तो भी निराश नहीं होना चाहिए। गुरु के पास जाकर पुनः उनसे आदेश लेकर सिद्धि के प्रयत्न में संलग्न होना चाहिए।

इस प्रकार कहीं वर्षों तक परिश्रम करने पर सिद्धि मिलती है, परन्तु आज के मानव में इतना धैर्य भी हो, तो इतनी सुविधा कहाँ ? फिर बाल-बच्चों, सुख-भोग आदि का मोह अलग प्रति-क्षण उसे चिन्ता-ग्रस्त किए रहता है। कौन शास्त्र के विधि-विधानों के चक्कर में पड़े ! और सो भी उस दशा में, जब उसे ग्रपने आस-पास अनायास ही 'सिद्धि' दिलानेवाले महातमा पुरुष घूमते दिखाई दे रहे हों ! बात यह है कि भ्रान्ति का बाजार धूम-धाम से लगा हुआ है, जिससे श्रद्धा का, यहाँ तक कि आस्तिकता का भी, बुरी तरह पद-दलन किया जा रहा है।

ऐसी स्थिति में 'सत्य' की कौन कदर करे ? और जहाँ 'सत्य' नहीं, वहाँ 'सिद्धि' कहाँ ? परन्तु 'सिद्धि' की चाह सबको है । सभी उसी के फेर में रहते हैं, परन्तु 'सत्य' का पालन करने को तैयार नहीं हैं। वे इतने आत्म-निर्बल हैं कि 'सिद्धि' की चाह में मानव को ही ईश्वर मानने को आज तैयार हैं ! तैयार ही नहीं, ये दुर्बल - चित्त सर्वत्र मानव को ईश्वर मानकर उसकी पूजा - सेवा में इसलिए निरत दिखाई दे रहे हैं कि वह उन्हें सिद्ध बना दे—न सिद्ध बना दे, तो कम-से-कम उन्हें आधि - व्याधियों से मुक्त रखे !

इस प्रकार, इस समय, जहाँ देखो—वहाँ मानव-पूजा का बोल-बाला है ! न कोई ईश्वर को पूछता है, न कोई सच्छास्त्र-निर्दिष्ट सत्-साधनाओं को ही मानने को तैयार है ! और ये हमारे मानव-रूपी ईश्वर भी बड़े तपाक के साथ अपने भक्तों की रक्षा का आश्वासन देते दिखाई दे रहे हैं ! क्यों न आश्वासन दें ? जब लोग इतने निरीह और हीन-बुद्धि हो गए हैं, तब उनका शोषण बुद्धिमान् तो करेंगे ही । इसमें उनका कोई दोष नहीं है । दोष है उनका, जिन्होंने 'सत्य-मार्ग' का त्याग किया है, ईश्वर को भुला दिया है और उपेक्षा कर दी है अपने उन सच्छास्त्रों की, जो युगों से इस पुण्य-भूमि के निवासियों के पथ-प्रदर्शक रहे हैं ।

अतएव भ्रान्तों को सावधान होकर अपनी भूल को समझना चाहिए और यदि वे अपना कल्याण चाहते हों, तो शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें अपने पूर्वजों की राह पर आ जाना चाहिए । अभी समय है । अभी बहुत नहीं बिगड़ा है । उनके शास्त्र, उनका धर्म—आज भी विद्यमान् है । वह उन्हें बुला रहा है । वर्तमान अधःपतन से बचने का एक-मात्र एक ही उपाय है और वह है—

"स्व-धर्मे निधनं श्रेयः, पर-धर्मो भयावहः ।"

अर्थात् 'कुल-धर्म' का सेवन करो । यदि ऐसा नहीं करोगे, तो अधःपतन अनिवार्य है ।

३० शास्त्र-मर्यादा की छीछालेदर !

पुण्य-भूमि भारतवर्ष में 'शास्त्र-मर्यादा' का सदैव बोल-बाला रहा है । आज भी उसका महत्त्व स्थापित है । लोग इस समय भी 'शास्त्र' का प्रमाण पाते ही चुप हो जाते हैं । 'शास्त्र' की ऐसी ही मर्यादा यहाँ स्थापित है—शिक्षितों और अशिक्षितों दोनों ही में ।

यह सच है कि देश और कालानुसार इस पवित्र भावना का भी ह्रास और विकास होता आया है । आज की धर्म-ग्लानि के काल में जहाँ धर्म-सम्बन्धी सभी बातों में अवनति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, वहाँ यदि 'शास्त्र-मर्यादा' की अवहेलना होती हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही होगा और इसमें आश्चर्य की बात न होगी, यदि यह अवहेलना अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षितों में अधिक पाई जाय । अशिक्षितों में, यद्यपि शास्त्र-ज्ञान से वे प्रायः शून्य होते हैं, 'शास्त्र-मर्यादा' की रक्षा का भाव पूर्ण रीति से पाया जाता है । यथा-शक्ति, यथा-सुविधा जितनी अधिक श्रद्धा से वे अपने सारे धर्म-कार्य करते पाए जाते हैं, वह एक ध्यान-पूर्वक विचार करने की ही बात है । अब रही शिक्षितों की बात, सो उनसे तो यही आशा किया जाना सर्वथा स्वाभाविक है कि वे अपने नित्य - नैमित्तिक सारे धार्मिक कार्य शास्त्र - विधि के अनुसार ही करते होंगे । दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसी आशा करना जोखिम की बात होगी ।

बहुत दिन की बात नहीं है, हम एक धार्मिक महोत्सव में शामिल हुए थे। बड़ा विराट् आयोजन था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो 'सत्य-युग' का आविर्भाव हो रहा है। मेरे जैसे लोग बड़ी उत्कण्ठा और उत्साह के साथ उस महोत्सव में शामिल हुए थे। बड़े-बड़े विद्वान् महात्माओं के प्रवचन तथा विद्वान् अधिकारी पण्डितों के उपदेश नित्य सुनने को मिलते थे। रात-दिन इस प्रकार उपदेशामृत की वर्षा होती रहती थी और भक्त लोगों की मण्डलियाँ उसे पान कर तृप्त होकर आनन्द की निद्रा में समाधिस्थ होकर मुझ जैसे नवयुवकों के हृदयों में भक्ति - भाव का उद्रेक करती थीं, परन्तु एक दूसरा भी पहलू था।

जहाँ शास्त्रानुसार यज्ञ का अनुष्ठान होता था, वह दृश्य भी हमने देखा। वहाँ क्या होता था—क्या सङ्गत होता था, क्या असङ्गत होता था, यह तो हम नहीं जान सकते थे, परन्तु उसमें भाग लेनेवाले पण्डित ही उसकी व्यवस्था से असन्तुष्ट थे! मण्डप के भीतर क्या होता था, वह तो मैं नहीं जान सका, परन्तु मण्डप के बाहर जो पण्डित लोग उस महा-यज्ञ के अंश-भूत अपना-अपना जो निर्दिष्ट कर्म करते थे, उनमें से बहुतों का वह-वह कर्म अधूरा ही होता था। यही नहीं, अनुष्ठान–निरत पण्डितों में से कुछ लोग, कुछ दिन तक अनुष्ठान कर, अपने-अपने घर चले जाते थे और उनकी जगह पर दूसरे नए लोग आ जाते थे! उनका यह आवागमन बराबर होता रहता था।

यह व्यवस्था कहाँ तक शास्त्र-सम्मत होती थी, यह तो शास्त्रज्ञ ही जानें, परन्तु उनमें से जो लोग काम-चोर थे, उनकी काम-चोरी से मुझ जैसों की समझ में यही आता था कि इस यज्ञ नुष्ठान का फल अनुकूल होने की अपेक्षा यदि प्रतिकूल हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। मैंने कई विज्ञ पुरुषों के मुख से वहाँ यह भी सुना कि शास्त्र-विधि की इस यज्ञानुष्ठान में अवहेलना ही नहीं हो रही है, किन्तु उसकी छीछालेदर हो रही है!

कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञ-समाज में जहाँ, 'शास्त्र-मर्यादा' के अक्षर-अक्षर का पालन होना चाहिए, वहाँ पद-पद पर उसकी उपेक्षा की जाती है। यही नहीं, अपनी मर्यादा बनाए रखने के लिए 'शास्त्रज्ञ' कहा जानेवाला हमारा पण्डित-समाज अपने सुभीते के लिए देश-काल को सामने रख कर नए-नए शास्त्र-वचन गढ़ लेता है! यदि कोई उनसे कहता है कि 'तुम्हारा यह काम अवैदिक है', तो हमारे ये आराध्य आचार्य लोग उसका तिरस्कार करते हैं और उसे 'नास्तिक' कह कर उसका अपमान करते हैं!

जहाँ के धर्म-धुरीण इस प्रकार अपनी सुविधा और स्वार्थ-पूर्ति के लिए 'अविधि' को प्रश्रय देते हैं, यही नहीं उसे पूर्ण प्रामाणिक सिद्ध करने की ढिठाई भी दिखाते हैं, वहाँ यदि उनके यज्ञानुष्ठान सफल नहीं होते, यदि उनसे अनिष्ट होता है, तो इसमें किसी को आश्चर्य-चकित नहीं होना चाहिए। यह धर्म-ग्लानि का काल है। इस काल में ऐसा ही होता है।

रह गई बात 'शास्त्र-मर्यादा' की रक्षा की, सो तो बीज-रूप में वह अपना अस्तित्व बनाये ही रहेगी। हमारा 'शास्त्र' नित्य है। वह ईश्वरोपदिष्ट है, सनातन और शाश्वत है। इस पुण्य-भूमि भारत की ऋषि-सन्तान इस रहस्य को जानती है, वह इसका विश्वास करती है और इसी से वह अपने को 'अमर' समझती है। यह एक ऐसा रहस्यात्मक तथ्य है, जिसका बोध एकमात्र उन्हीं को है। यही कारण है कि इस कलि-काल में उनका शाश्वत 'वैदिक-धर्म' आज भी अपना अस्तित्व यहाँ बनाए हुए है और उसका प्रभाव भी व्यापक रूप से विद्यमान पाया जाता है।

३१ उपहासास्पद स्थिति

हिन्दुओं में जन-जन में यही भावना प्रति-क्षण मौजूद रहती है कि सारा संसार मिथ्या और नाशवान है, सत्य और अबिनाशी एक-मात्र परमेश्वर है। इस भावना ने उन्हें किस स्थिति को पहुँचाया है. यह प्रकट ही है। साथ ही यह भी प्रकट है कि उनमें दैन्य और अकर्मण्यता घर कर गई है, परन्तु **'वैदिक भावना'** तो ऐसी नहीं है। वह तो महत्त्वाकांक्षा से ओत-प्रोत है, साथ ही इतनी सबल भी है कि वह केवल ठीक बुद्धि होने की ही चाह रखती है। तभी तो उस भावना का उद्घोष **'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'** है, क्योंकि ऐसा होने पर ही आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। बुद्धि के ठीक होने की माँग में कितना अदैन्य है, कितनी स्फूर्ति है, यह स्पष्ट है।

आज का हिन्दू अपने को एक ओर वैदिक होने का स्वाभिमान प्रकट करता तो है, परन्तु उसके सर्वथा विरोधी भाव को ग्रहण कर अपने पैर में अपने हाथों हो कुल्हाड़ी मारता है! जहाँ देखो, वहाँ **'ब्रह्म-वाद'** की धूम है। जिस किसी से बात करो, वह 'ब्रह्म' से नीचे बात करता नहीं दिखाई देगा। इसी प्रकार भक्ति-वादियों के बीच में जाकर देखिए, उन्हें आप **'भक्ति-भावना'** में सराबोर ही पाएँगे, परन्तु यही 'ब्रह्म-वादी' और 'भक्त' लोग जब हमें व्यवहार के क्षेत्र में मिलते हैं, जब हम उन्हें सरकारी अदालतों में दाँव-पेंच करते देखते हैं, जब हम उन्हें व्यापार की मण्डियों में अपने ग्राहकों को बुरी तरह ठगते पाते हैं, तब हम चौंक पड़ते हैं, अपने मन में कह उठते हैं कि मनुष्यता का यह कैसा वीभत्स रूप है!

कहाँ ये ही **'ब्रह्म-वादी'** एक दिन 'ब्रह्म-वाद' के तत्त्वों का निरूपण करने में अपने बुद्धि-वैभव की पराकाष्ठा दिखा रहे थे, कहाँ ये **'भक्ति-मर्मज्ञ'** एक दिन भक्त-मण्डलियों में अपने सङ्कीर्तन से भक्ति की धारा बहाकर लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर देते थे और कहाँ ये ही दूसरों का माल हड़पने, लोगों को ठगने, उन्हें धोखा देने में ही अपने बुद्धि-वैभव को सार्थकता मानते हैं!

हिन्दू-समाज का यह दृश्य कितना हृदय-विदारक है, यह इसी बात से प्रकट होता है कि उसकी इस स्थिति के लिए कोई दो आँसू बहानेवाला भी नहीं रह गया! कितना विकट भय-प्रद परिवर्तन हुआ है!! पुनीत वैदिक भावनाओं का परित्याग कर हम आज कहाँ जा पहुँचे हैं, इस बात की कोई भी परवा करता दिखाई नहीं देता!

'वैदिक भावना' तो एक-मात्र बुद्धि के ठीक होने की माँग करती है। उसका मूल उद्देश्य यही है कि लोग अपना जीवन 'मानव' के रूप में व्यतीत करें। 'जीवन-यात्रा' में अपनी 'बुद्धि' का इस प्रकार उपयोग करें कि सारे मनुष्य सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी का कल्याण हो, कोई भी दुःखी न रहे। 'वैदिक भावना' की यह कामना तभी पूर्ण हो सकती है, जब लोगों में सद्-बुद्धि का प्रभाव हो। इसी से महत्त्वाकांक्षी हिन्दू परमेश्वर से यदि कुछ माँगता है, तो इतना ही कि उसकी बुद्धि ठीक-ठीक काम करे और यह माँग कर वह अपने काम में लग जाता है--ऐसे काम में, जिससे शान्ति की स्थापना हो और उसे उसका आनन्द मिल जाय।

'वैदिक भावना' का ऐसा ही सीधा और सरल व्यावहारिक मार्ग रहा है, परन्तु आज उसे हमने भुला दिया है। हम बात में कुछ हैं और हृदय में कुछ और हैं। यह द्वैत-भावना, **'अद्वैत-वादी'** हिन्दू में कहाँ रही है? यह बात भी इस बात का प्रमाण है कि हम झूठ-मूठ ही अपने को वैदिक धर्मावलम्बी कहते हैं और ध्येय रखते हैं सर्वथा अवैदिक मार्ग का! यह कैसी उपहासास्पद स्थिति हमारी है!! भगवान् से यही प्रार्थना है कि वह हम सबकी बुद्धि को ठीक राह पर रखे। इसके अतिरिक्त हम और कह ही क्या सकते हैं!

यह है आसन हृदय-कमल का, सुन्दर अति अभिराम ।
हो आसीन इसी पर माता, तेरी मूर्ति ललाम ।।४
सहस्रार-स्रुत सुधा समर्पित, पाद-युग्म पर पाद्य-स्वरूप ।
शिर पर अर्घ्य जननि! है मन का, जो सब भाँति अनूप ।।५
वही सुधा है करो आचमन, और उसी से होवे स्नान ।
शब्द-तत्त्व के वसन पहनिए, गन्ध-तत्त्व का गन्ध-विधान ।।६
पुष्प-रूप है चित्त समर्पित, और प्राण हैं धूप-स्वरूप ।
तेज-तत्त्व यह विमल दीप, है नैवेद्य सुधा का कूप ।।७
शब्द अनाहत का घण्टा यह, वायु-तत्त्व का चामर भव्य ।
इन्द्रिय-गण के कर्म सकल जो, और चपलता मन की नव्य ।।८
यही नृत्य माता है मोहक, करती जिसकी तू है जोह ।
अहङ्कार मद राग मोह औ, अद्वेष अदम्भ अमोह ।।९
अमात्सर्य अक्षोभ अलोभहु, दस प्रकार के पुष्प समान ।
और अहिंसा इन्द्रिय-निग्रह, दया क्षमा औ ज्ञान महान ।।१
परम पुष्प ये पाँच और भी, करता हूँ मैं माँ तुम्हें प्रदान ।
सुधा-सिन्धु औ मांस-शै न त्यों, भर्जित मीनों की भी खान ।।११
मुद्रा-शशि भक्त घृत पूरित, पायस मधुर कुलामृत पूर ।
काम-क्रोध पशु की बलि देना, होवें विघ्न आप सब दूर ।।१२
सकल मातृका की माला से, जप की मैंने सहित विधान ।
उसका फल तुझको मा अर्पित, ग्रहण कीजिए दे वरदान ।।१३

।। फल-श्रुति ।।

यह पूजा जो साधक करता, मिलता उसको परमानन्द ।
रहता सदा घूमता जग में, निर्भय सुखी तथा स्वच्छन्द ।।१४

रजि० सं० ३२६६१/५७] मई, १९९१ [रजि० सं० ए० डी० ६६
सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री ऋतशील शर्मा, परा वाणी प्रेस, प्रयाग–२११००६

पूजा-रहस्य

हिन्दुओं की पूजा का व्याख्यात्मक अनूठा विवरण

मूल्य १५-०० रु०

सचित्र
मुद्राएँ एवम् उपचार

हिन्दुओं की पूजा में प्रयुक्त होनेवाली मुद्राओं एवं पूजोपचारों (आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा आदि) का प्रामाणिक वर्णन ।

मूल्य १०-०० रु०

सविधि
श्री कुण्डलिनी साधना

षट्-चक्रों एवं कुण्डलिनी-योग का सचित्र विवेचन

मूल्य १५-०० रु०

मन्त्र-कोष

पञ्च-देव (गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव, भगवती दुर्गा), दश-महा-विद्या (काली, तारा, श्रीविद्या आदि) तथा विविध देवताओं के मन्त्रों का अनुपम कोष, बीज-कोषादि

मूल्य ५५-०० रु०/सजिल्द मूल्य ६५-०० रु०